नारायणपण्डितेन संगृहीतो

हितोपदेशः

(अश्लीलाद्यंशविवर्जितः)

प्रबोधचन्द्रिकाव्याख्योपेतः

उदयनाचार्यः

ओ३म्

नारायणपण्डितेन संगृहीतो

हितोपदेशः

(अश्लीलाद्यंशविवर्जितः)

प्रबोधचन्द्रिकाव्याख्योपेतः

संस्कृत-हिन्दी-भाष्यकारः

उदयनाचार्यः

संस्थापक एवं अध्यक्ष : निगम-नीडम्
महर्षि दयानन्द मार्ग
पिडिचेड, गज्वेल, मेदक (आं०प्र०)
पिन : ५०२२७८
सेल नं० ०९४४०७२१९५८, ०९३९६२०४३३७
०९६६६४४५९५२

प्रकाशक

रामलाल कपूर ट्रस्ट

रेवली, पो०- ई० सी० मुरथल
जिला—सोनीपत (हरियाणा) पिन—१३१०३९

एते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता
भवन्ति येषु लक्षणं प्रपञ्चश्च।
केवलं लक्षणं केवलः प्रपञ्चो वा
न तथा (उप) कारकं भवति॥

—महाभाष्यम् २.१.५७॥

प्रकाशक : **रामलाल कपूर ट्रस्ट**
रेवली, डाक०-ई०सी० मुरथल
जिला—सोनीपत (हरियाणा) १३१०३९
दूरभाष : ०१३०-३२९०२७६, २१००२८५

संस्करण : २०६९ विक्रमी संवत्, २०१२ ई०

मूल्य : ६०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. **रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेन्ट्स**
२५९६, नई सड़क, दिल्ली-६
२. **निगम-नीडम्, महर्षि दयानन्द मार्ग,**
पिडिचेड, गज्वेल,
मेदक (आं०प्र०) पिन-५०२२७८
सचलभाष : ०९४४०७२१९५८
०९३९६२०४३३७

शब्द-संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** कैलाशनगर, दिल्ली-३१
दूरभाष : ०९२५५९-१२३१४

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाश नगर, दिल्ली-३१

भूमिका

सर्गारम्भ में परमपिता परमात्मा से मानव समाज को वेदज्ञान प्राप्त हुआ। आरम्भ में साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हुए। वे सीधा वेदमन्त्रों से ही मन्त्रों के अर्थ, भाव विनियोगादि से भलीभाँति अवगत होते थे। पर कालान्तर में वेदार्थावगति में सामर्थ्य का अपेक्षाकृत स्वल्प हो जाने से अर्थादि को उपदेश द्वारा वेद का अध्ययन-अध्यापन प्रारम्भ हुआ। पुनरपि अर्थावगति में सामर्थ्य का और भी अधिक शैथिल्य हो जाने से वेदाङ्गों की परम्परा चल पड़ी है।[१] इससे स्पष्ट होता है कि कालक्रमेण वेदार्थ में कठिनाई का अनुभव करते हुए सरलता के उपायों का अन्वेषण होता रहा। इस प्रकार की प्रवृत्ति बढ़ती हुई अर्थात् वेदार्थावगति में सामर्थ्यादि की शिथिलता बढ़ती हुई निरुक्तकार के समय तक लोग वेदार्थ को छोड़कर केवल मन्त्रों का यज्ञादि में विनियोग करना ही चरितार्थता समझने लगे थे। फलतः निरुक्तकार यास्कमुनि को कहना पड़ा कि—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञः इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्राविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

—निरु० १.१८॥

अर्थात् जो वेद का पाठमात्र पढ़ता है अर्थ नहीं जानता, वह वृक्ष या गधे के सदृश भार उठाने वाला है। और जो वेद का यथावत् अर्थ जानता है, वह ही पूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है, और ज्ञान द्वारा पापों को नष्ट कर देहावसान पर परम सुखमय मुक्तिधाम में पहुचता है। जो

---

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषियो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। (निरु. १.२०)

विना समझे ग्रहण किया हुआ है, पढ़ा हुआ है, एवं पाठमात्र से उच्चारित हो जाता है, वह पठित शास्त्र अग्नि रहित स्थान में स्थित सूखी लकड़ियों के तुल्य कभी प्रज्वलित नहीं होता, कभी नहीं चमकता।

इस प्रकार महर्षि पाणिनि के समय तक आते आते वैदिक शब्दों के अर्थ करना एक दुरूह का विषय बन गया था। फलतः लोग वेदों से पराङ्मुख होने लगे। तब वेद की रक्षा के लिए, वेदार्थ में शब्दों की दुरूहता को समाप्त करने के लिए महर्षि पाणिनि को शब्दानुशासन नामक शास्त्र (अष्टाध्यायी) की रचना करनी पड़ी, जिससे लोगों को अत्यल्प-परिश्रम से, स्वल्प काल में विशाल शब्दसागर अधिगत हो जाय। पुनरपि आचार्य कात्यायन के समय तक वेदेतर शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में उपेक्षाभाव प्रारम्भ होकर महर्षि पतञ्जलि के समय तक वह उपेक्षाभाव चरम सीमा तक पहुँच गया था। जिसकी निवृत्ति के लिए लोगों को सचेत करते हुए आचार्य कात्यायन ने कहा था कि वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण अवश्य पढ़ना चाहिए।[१] इसी प्रकार भाष्यकार को भी **''इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि''** (पस्पशाह्निक) कहकर शास्त्रविमुख याज्ञिकों को वेद और मन्त्रों के विनियोग के लिए व्याकरण की अनिवार्यता का प्रतिपादन करना पड़ा। जिससे व्याकरणादि के अध्ययन में लोगों की प्रवृत्ति बढ़ी। पर कालान्तर में शनैः शनैः लोगों को व्याकरण के अध्ययन में भी वेदवत् कठिनाई का अनुभव होने लगा और व्याकरण एक शुष्कशास्त्र बन गया। उस काठिन्य की निवृत्ति के लिए व्याकरण के प्रक्रियाग्रन्थों एवं साहित्यग्रन्थों का सर्जन हुआ। इन उपायों में प्रक्रियाग्रन्थ तो उक्त कठिनाईयों को दूर करने में सर्वथा निष्फल ही रहे हैं, इन ग्रन्थों के अध्ययन से महर्षि पाणिनि का आशय (अत्यल्प परिश्रम से तथा स्वल्प काल में ही वेदार्थ को समझना, शब्द सागर से पारङ्गत होना रूपी आशय) ही समाप्त होकर व्याकरण एक आजन्ममरण व्याधि बनकर रह गया। हाँ! साहित्य ग्रन्थों का सर्जन तो व्याकरण की कठिनाई को समाप्त करने में अवश्य

१. रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् (वार्त्तिक)। रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यति (पस्पशाह्निक)।

ही सफल हुए हैं। जिनसे व्याकरण के अध्येताओं में परिव्याप्त भीति नष्ट होकर, सरसता से व्याकरण शास्त्र को पढ़ने में लोगों की प्रवृत्ति वर्धित हुई है।

व्याकरण सूत्रों एवं उदाहरणों की दुरूहता को समाप्त करने के उद्देश्य से विरचित संस्कृत-काव्य-साहित्यों में सर्वप्रथम भट्टविरचित भट्टिमहाकाव्यम् (रावण-वध) [५८८-८९ ई.पू.] को लिया जाता है। इसके बाद लिखित प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—भूम भट्ट (७०० ई.) विरचित रावणार्जुनीयम्, हलायुध विरचित कविरहस्य, वासुदेव कवि विरचित वासुदेवविजय, योगीन्द्रनाथ तर्क चूडामणि विरचित दशाननवध-काव्य, दिवाकर विरचित लक्षणादर्श, काशीनाथ विरचित यदुवंशकाव्यम् आदि। इसी प्रकार संस्कृत-काव्य-ग्रन्थों के माध्यम से व्याकरणशास्त्र का शिक्षण ही नहीं अपितु रस, अलंकार, छन्द, नीति, संस्कार, धार्मिकता आदि के प्रशिक्षण की परम्परा भी बहुत प्राचीन काल से चलती आ रही है। इसी परम्परा के अंगभूत प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं- पञ्चतन्त्र और हितोपदेश। ये दोनों ही ग्रन्थ शास्त्रोन्मुख राजकुमारों को नीतिशास्त्रों की ओर प्रवृत्त कराने के उद्देश्य से ही लिखे गये हैं। इन दोनों में भी अपेक्षाकृत हितोपदेश सरल और संक्षिप्त है। अतः इसी की व्याख्या यहाँ लिखी जा रही है। जिससे कि कोमल हृदय वाले, अविकसित मस्तिष्क वाले छात्रों को सरस नीति-बोधक कथाओं के साथ-साथ व्याकरण की परिपक्वता हो।

इस व्याख्या का उद्देश्य

व्याकरण के अध्येता छात्र तीन श्रेणी के होते हैं—१. निम्न २. मध्यम और ३. उत्तम। इनमें निम्नश्रेणी के छात्र को परिश्रम करके मध्यम और उत्तम श्रेणी में तथा मध्यम श्रेणी के छात्र को उत्तम श्रेणी में पहुंचना होता है। उत्तम श्रेणी का छात्र वह है, जो व्याकरणशास्त्र को परिपक्वता के साथ अध्ययन कर शब्द की व्युत्पत्ति में निष्णात होता है, प्रत्येक शब्द के प्रकृति प्रत्यय आदि के विभाग को जानकर व्याकरण के नियमानुसार शब्दव्युत्पत्ति में सिद्धहस्त होता है, शब्द का स्वरूप उसके समक्ष प्रत्यक्ष रहता है और मध्यम श्रेणी का छात्र वह होता है,

जो व्याकरण के सूत्र, अर्थ, कार्य, उदाहरण आदि को तो समझ चुका होता है, पर सभी नियम सदा स्मृतिपटल पर उपस्थित नहीं होते, फलतः सूत्रों के उदाहरणों के अतिरिक्त तत्सदृश उदाहरण साहित्य में आने पर उन्हें पहचान नहीं पाता[१] कि इस शब्द में क्या प्रकृति है, क्या प्रत्यय है आदि। अतः उसके लिए शब्द का स्वरूप अप्रत्यक्ष, अव्यक्त, अस्पष्ट रहता है। निम्न श्रेणी का छात्र वह है जो व्याकरण के सूत्रों एवं उदाहरणों को ही हृदयङ्गम नहीं कर चुका होता है, भला वह तत्सदृश उदाहरणों को कैसे पहचान सकता है? अतः उसके सामने अन्धकार ही अन्धकार छाया रहता है। अत एव निम्न एवं मध्यम श्रेणी के छात्रों को उत्तम श्रेणी में पहुचाने के उद्देश्य से, उनकी योग्यता को विकसित करने के उद्देश्य से, उनमें आशा के किरण प्रकाशित करने के लिए, उनमें व्याकरण की गति प्रदान करने के लिए, दुस्तर शब्द सागर में पारंगत बनाने के उद्देश्य से यह व्याख्या लिखी गई है।[२]

इस व्याख्या की विशेषता

१. पाठभेद एवं तुलनायोग्य पाठों के साथ शुद्ध मूलपाठ।
२. प्रत्येक व्याख्येय अंश का अन्वय, जिससे छात्रों को श्लोकों का अन्वय करने का अभ्यास हो जाता।
३. व्याख्येय अंश (पद्य व गद्य) में आगत प्रायः सभी शब्दों के समानार्थक (पर्याय) शब्दों का संकलन। जिससे छात्र को उसी अर्थ में प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्दों का एक साथ परिचय प्राप्त होगा। यह संकलन प्रायः अमरकोश के श्लोकों का ही है। श्लोकबद्ध होने से कण्ठस्थ करने में सुविधा एवं सरलता होती है। यह संकलन छात्र के शब्दज्ञान का वर्धक है।
४. कोष के अन्तर्गत तिङन्त (आख्यात, क्रिया) पदों के भी समानार्थक तिङन्तों का संकलन किया गया है, जिससे एक क्रिया के अर्थ को व्यक्त करने के लिए कितनी धातु प्रयुक्त होती हैं? इसका भी

१. केवलेन लक्षणेन मन्दबुद्धिर्विषयविभागं नावधारयति (प्रदीपः २.१.५७)।
२. एते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषु लक्षणं प्रपञ्चश्च, केवलं लक्षणं केवलं प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति। (म.भा.२.१.५७)[कारकम्=उपकारकम्]।

ज्ञान होगा।
५. व्याख्येय अंश का विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याकरण का विश्लेषण किया गया है। अर्थात् विभागशः व्याकरण के नियमों को प्रदर्शित किया गया है। जैसे सन्धि, कृदन्त, तद्धितान्त, समास, अव्यय, सुबन्त आदि। इससे प्रत्येक विषय में विभागशः छात्र की योग्यता उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी।
६. कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति में धातुओं का निर्देश अर्थ के साथ दिया गया है, जैसे कि धातुपाठ में निर्दिष्ट हैं। इससे धातुपाठ के सूत्र भी कण्ठस्थ होंगे।
७. व्याख्येय शब्दों का अर्थ तत्सम, सरल संस्कृत शब्दों से ही अभिव्यक्त किया गया है। जिससे अध्येता को संस्कृत शब्दों का अर्थ संस्कृत में ही व्यक्त करने एवं विचारने की क्षमता प्राप्त होगी।
८. व्याख्या के अन्तर्गत आगत शब्दों के विभिन्न अर्थ भी टिप्पणियों में संगृहीत किये गये हैं। जिससे पाठकों को शब्द के अनेक अर्थों का भी बोध हो जाता है और प्रकृत प्रसंग में वह शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ, इसे जानने में स्वतः समर्थ हो जाता है। इससे छात्र कहीं भी शब्दों के अर्थों को जानने में भ्रमित नहीं होगा, अर्थ का अनर्थ कर उपहास का पात्र नहीं बनेगा। प्रसंगानुकूल अर्थ करने में समर्थ होगा। शब्द के अनेकार्थों के सप्रयोग स्पष्टीकरण के लिए ''वाचस्पत्यम्'' कोष को देखें।
९. व्याख्येय अंश का अर्थ हिन्दी भाषा में भी अभिव्यक्त किया गया है।
१०. जिस नीतिशास्त्र की अवगति के उद्देश्य से यह मूलग्रन्थ लिखा गया है, तत्तद् श्लोकों में अभिव्यक्त नीति को अन्य नीतिकारों के शब्दों में भी प्रकट किया गया है। जिससे ग्रन्थ के उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ अन्य नीतिकारों के प्रबोध से भी छात्र परिचित होंगे और नीति, संस्कार, धार्मिकता, नैतिकता व्यवहार की कुशलता आदि के ज्ञान से व्यक्तित्व का भी विकास होगा।
११. इस ग्रन्थ की व्याख्या में २०२ नीतिश्लोकों का संग्रह भी है।

निवेदन— अध्यापकों से विनम्र निवेदन—

१. प्रकृत ग्रन्थ की व्याकरण-प्रक्रिया में यथा सम्भव पूर्ण स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया गया है। पुनरपि अध्यापन के समय छात्र व छात्राओं की योग्यता को देखते हुए और अधिक स्पष्टीकरण वा सरलता अपेक्षित होने पर वह अपेक्षा पूरी की जाय।

२. यहाँ सुबाद्युत्पत्ति, तिङाद्युत्पत्ति, सुपों का लुक् आदि कार्य नहीं दिखाए गये। और अभीष्ट कार्य के लिए अपेक्षित संज्ञा, अधिकार आदि का भी निर्देश नहीं किया गया है। अतः छात्र के स्तर और रुचि को देखते हुए आवश्यक पूर्ण जानकारी देते हुए और मध्य-मध्य में पूछते हुए उनकी योग्यता को बढ़ावें एवं उत्साह वर्धन करें।

३. अमरकोश के पर्यायवाची शब्दों (श्लोकों) को, नानार्थों को और अभिरुचि के अनुसार आवश्यक नीतिश्लोकों को भी अवश्य कण्ठस्थ करावें।

४. कोष के अन्तर्गत एक शब्द के पर्यायवाची शब्दों का निर्देश एक ही बार किया गया है। जब वही शब्द आगे पुनः पुनः आता है तो उसके पर्यायवाची शब्दों को बार-बार पूछा जाय, जिससे कि वे शब्द छात्र के स्मृतिपटल पर दृढ़ता से अंकित हों। इसी प्रकार की आवृत्ति शब्दव्युत्पत्ति में भी अवश्य ही की जावे, जिससे छात्र की धारणा-शक्ति बढ़े। प्रत्येक विषय पूर्णरूप से अधिगत होने तक पौनःपुन्येन आवृत्ति की जावें। इस प्रकार के अभ्यास से कुछ ही दिनों में छात्र की योग्यता और व्याकरण की गति अवश्य ही बढ़ेगी।

५. कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति में धातुओं का अर्थ के साथ निर्देश किया गया है। अतः उन्हें भी अवश्य कण्ठाग्र करावें। जिससे छात्र को धातुपाठ के अधिकांश सूत्र कण्ठस्थ हो जावेंगे।

६. उणादि कृदन्त-शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं दिखाई गयी है। अत्यन्त आवश्यक होने पर अपवाद स्वरूप कहीं- कहीं ही उणादि प्रक्रिया बतायी गयी है।

७. शब्दों का लिङ्गबोध भी छात्र को अवश्य कराते जावें। व्याख्या में

एवं अमर-कोश, मेदनी आदि के श्लोकों में यह विषय प्रायः प्रतिपादित है।

८. अन्वय कराते समय अन्वय करने की विधि सहेतु समझाना चाहिए।

९. नीति के अन्तर्गत संगृहीत श्लोकों वा वचनों का अर्थ भी छात्र को आवश्यक विवरण के साथ समझावें।

१०. व्याकरण की प्रक्रिया स्वयं न समझाकर छात्र से पूछकर उन्हीं से करायी जावें। छात्र समझने वा बताने में असमर्थ होने पर ही स्वयं उसे समझावें।

११. जिन छात्रों व छात्राओं का अष्टाध्यायीभाष्य (प्रथमावृत्ति) के न्यूनातिन्यून पांच अध्यायों का अध्ययन समाप्त हो गया हो, उन्हीं को यह ग्रन्थ पढ़ाया जावें।

छात्र व छात्राओं से दो शब्द—

१. अध्येता विद्यार्थी को सदा श्रद्धान्वित एवं विनययुक्त होना चाहिए, क्योंकि श्रद्धा, जिज्ञासा से कठिन एवं शुष्क विषय भी सरल, सरस और सुग्राह्य बन जाता है। इतना ही नहीं अविनीत, ढ़ीठ व्यक्ति कदापि गुरु से विद्या प्राप्त नहीं कर सकता। अतः छात्र को विनम्र-स्वाभावी और सदाचरणशील होना चाहिए। कहा भी गया है—

विनयो ददाति विद्यां, विद्यया याति पात्रताम्[१]।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति, धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

२. गुरुमुख से अध्ययन करते समय मन को एकाग्रित कर विषय को हृदयंगम कर लेना चाहिए और पुनः-पुनः अधीत विषय की पुनरावृत्ति कर लेनी चाहिए। जिससे वह विषय स्मृतिपटल पर सुदृढ़ता से अंकित हो, कदापि विस्मृति न हो। यहाँ यह स्मर्तव्य है—

पुस्तकस्था च या विद्या, परहस्ते च यद्धनम्।
कार्यकाले समायाते, न सा विद्या न तद्धनम्॥
गुणिता शतशो विद्या सहस्त्रावर्तिता पुनः।

१. नीतिश्लोक इस प्रकार है—'**विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्**'। उपरिलिखित परिवर्तन स्वयं लेखक का है।

आगमिष्यति जिह्वाग्रे स्थलान्निम्नमिवोदकम्॥
शतेन गुणिताऽऽयाति सहस्रेण च तिष्ठति।
शतानां च सहस्रेण प्रेत्य चेह च तिष्ठति॥

—या०शि० २.१०३.१०४॥

३. अधीत विषय की भलीभाँति सज्जता, तैयारी स्वयं कर लेनी चाहिए, तत्पश्चात् अपने सहपाठियों के साथ मिलकर उसी पाठ के विषय में विचार-विमर्श, शंका-समाधान आदि कर लेना चाहिए। उसके पश्चात् भी यदि कहीं कोई संदिग्ध स्थल हो तो अध्यापक से उसका समाधान कर लेना चाहिए। यहाँ यह श्लोक सदा याद रखना चाहिए—

आचार्यात् पादमादत्ते, पादं शिष्यः स्वमेधया।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः, पादं कालक्रमेण च॥

४. इस प्रकार आलस्य, प्रमाद को त्यागकर अहर्निश पुरुषार्थ करने से बौद्धिक, मानसिक, वैयक्तिक, वैचारिक, व्यावहारिक उन्नति उत्तरोत्तर बढ़ती जाएगी। इसका अनुभव कुछ समय के पश्चात् छात्र स्वयं कर लेंगे। साथ में यह भी अनुभूत होगा कि अपने अन्दर छिपा हुआ सामर्थ्य प्रकट हो गया है, उद्भूत हो गया है, पूर्ण विकसित हो गया है। पुरुषार्थ के विना अपने सभी सामर्थ्य तिरोहित ही रह जाते हैं, अपने अन्दर ही विलीन हो जाते हैं। अतः यह भी कहा गया है—

गच्छन् पिपीलको याति योजनानां शतान्यपि।
अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति॥
उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥
उद्यमं साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवः[1] सहायकृत्॥



१. प्रकृतप्रसंगे देव इत्युक्ते आचार्यः, गुरुः, इत्यप्यर्थो ग्राह्यः।

सङ्केतसूची

अ०	:	अमरकोषः
अ०पु०	:	अग्निपुराणम्
अष्टा०	:	अष्टाध्यायी
अ०सं०/हैमः	:	अनेकार्थसंग्रहो नाम कोषः/ हेमचन्द्राचार्यविरचितः
आ०च०	:	आख्यातचन्द्रिका
उ०	:	उणादिकोषः
उ०रा०	:	उत्तररामचरितम्
ऐ०ब्रा०	:	ऐतरेय-ब्राह्मणम्
क०मु०	:	कथामुखम्
का०	:	काशिका
का० धा०	:	काशकृत्स्नधातुपाठः
का०नी०	:	कामन्दीय-नीतिसारः
कि०	:	किरातार्जुनीयम्
कु०	:	कुमारसम्भवम्
केनोप०	:	केनोपनिषद्
च०सं०नि०	:	चकरसंहिता-निदानस्थानम्
चा०नी०द०	:	चाणक्यनीतिदर्पणम्
चा०रा०	:	चाणक्यराजनीतिशास्त्रम्
चा०सू०	:	चाणक्यसूत्राणि
ज्ञा०सा०	:	ज्ञानसागरः
तै०आ०	:	तैत्तिरीयारण्यकम्
दर्प०	:	दर्पदलन
दृ०श०	:	दृष्टान्तशतकम्

धातु०सं०	:	धातुपर्याय-संग्रहः
न०, नरा०	:	नराभरणम्
ना०शि०	:	नारदीयशिक्षा
नी०वा०	:	नीतिवाक्यामृतम्
नी०सा०	:	नीतिसारः
पं०	:	पञ्चतन्त्रम्
प०पु०	:	पद्मपुराणम्
प०स्मृ०	:	पराशरस्मृति
पारि०	:	पारिभाषिकः
पी०पी०	:	पीटर पीटरसन
पु०प०	:	पुरुषपरीक्षा
प्र०च०	:	प्रबोधचन्द्रोदयम्
बु०च०	:	बुद्धचरितम्
बृ०ना०पु०	:	बृहन्नारदीयपुराणम्
ब्र०वै०पु०	:	ब्रह्मवैवर्तपुराणम्
भ०सु०	:	भर्तृहरिसुभाषितसंग्रहः
भर्तृ०	:	भर्तृहरिशतकम्
भा०पु०	:	भागवतपुराणम्
भो०प्र०	:	भोजप्रबन्धः
मनु०	:	मनुस्मृतिः
म०पु०	:	मत्स्यपुराणम्
म०भा०	:	महाभारतम्
माल०	:	मालविकाग्निमित्रम्
मुद्रा०	:	मुद्राराक्षसम्
मृत्०	:	मृच्छकटिकम्
मे०	:	मेदिनीकोषः
या०शि०	:	याज्ञवल्क्यशिक्षा

या०स्मृ०	:	याज्ञवल्क्यस्मृतिः
रघु०	:	रघुवंशः
रा०	:	रामायणाम्
लिङ्गा०	:	लिङ्गानुशासनम्
वा०	:	वार्त्तिकम्
वा०पु०	:	वामनपुराणम्
वि०ना०	:	विद्धशालभञ्जिका नाटिका
वि०नी०	:	विदुरनीतिः
वृ०चा०	:	वृद्धचाणक्यशतकम्
वेणी०	:	वेणीसंहारः
वि०पु०	:	विष्णुपुराणम्
शा०प०	:	शार्ङ्गधरपद्धतिः
शु०नी०	:	शुक्रनीतिः
सं०सु०र०	:	संस्कृत-सुभाषित-रत्नाकरः
सु०	:	सुभाषितावलिः
सु०र०	:	सुभाषितरत्नाकरः
सु०र०भा०	:	सुभाषितरत्नभाण्डागारम्
सु०सं०सू०	:	सुश्रुत्संहिता-सूत्रस्थानम्
सु०सा०	:	सुभाषितसाहस्री
सू०कु०	:	सूक्तकुसुमाञ्जलिः
सू०मु०	:	सूक्तमुक्तावली
स्क०पु०	:	स्कन्दपुराणम्
हि०	:	हितोपदेशः
हिं०प्र०	:	हिंगुलप्रकरणम्
हैमः/अ०सं०	:	हेमचन्द्राचार्यविरचितः अनेकार्थसंग्रहो नाम कोषः

हितोपदेशस्य श्लोकानुक्रमणिका

(प्रदत्ता संख्या पृष्ठसंख्या ज्ञेया)

अजरामरवत्	२६
अजातमृतमूर्खाणां	७०
अर्थागमो नित्य	९०
अनेकसंशयोच्छेदि	५५
अस्मिंस्तु निर्गुणं	१५६
आयुः कर्म च	११२
आहारनिद्राभय	१०६
उद्यमेन हि सिध्यन्ति	१३४
उद्योगिनं पुरुषसिंह	१२५
काकतालीयवत्	१३१
काचः काञ्चन	१४७
को धन्यो बहुभिः	९४
कोऽर्थः पुत्रेण	६६
गुणा गुणज्ञेषु	१६२
गुणिगणगणना	७५
दाने तपसि शौर्ये	७९
धर्मार्थकाममोक्षाणां	१०९
न दैवमिति सञ्चित्य	११८
नाद्रव्ये निहिता	१५४
पुण्यतीर्थे कृतं	८५
पूर्वजन्मकृतं कर्म	१२५
मातापितृकृताभ्यासो	१३६
माता शत्रुः पिता वैरी	१३८
मित्रलाभः सुहृद्भेदः	४७
मूर्खोऽपि शोभते	१४३
यथा मृत्पिण्डतः	१२९
यथा ह्येकेन चक्रेण	१२०
यथोदयगिरेर्द्रव्यं	१६०
यदभावि न तद्भावि	११४
यन्नवे भाजने लग्नः	४३
यस्य कस्य प्रसूतो	९७
यौवनं धनसम्पत्तिः	५८
रूपयौवनसम्पन्ना	१४१
वरमेको गुणी पुत्रः	८२
विद्या ददाति विनयं	३६
विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य	४०
श्रुतो हितोपदेशो	२३
संयोजयति विद्यैव	३३
स जातो येन जातेन	७३
सर्वद्रव्येषु विद्यैव	३०
हा हा पुत्रक	१०१
हीयते हि मति	१४९

नारायणपण्डितेन संगृहीतो

हितोपदेशः

(अश्लीलाद्यंशविवर्जितः)

अथ प्रस्तावना

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च॥ १॥
अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।[1]
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥ २॥

—शा०प० ६६९॥

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।
अहार्यत्वादनर्घ[2]त्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा॥ ३॥[3]
संयोजयति[4] विद्यैव नीचगापि नरं सरित्।
समुद्रमिव दुर्धर्षं[5] नृपं भाग्यमतः परम्॥ ४॥
विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति, धनाद्धर्मं ततः सुखम्[6]॥ ५॥
विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य[7] द्वे विद्ये प्रतिपत्तये।
आद्या हास्याय[8] वृद्धत्वे द्वितीयाद्रियते सदा॥ ६॥

---

१. तु० आहरेज्ज्ञानमर्थांश्च पुमानमरवत्सदा (सु. २९५२)।
२. 'अनर्घ्यत्वाद्' इति पी.पी. पाठः।
३. म०पु० १८९।
४. 'संगमयति' इति पी.पी.।
५. 'दुर्दर्शं' इति पी.पी.।
६. 'सुखी इति पी.पी.'।
७. 'विद्या शस्त्रञ्च शास्त्रञ्च' इति क्वाचित्कः पाठः।
८. 'हासाय' इति पी.पी.।

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।
कथाछलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते॥ ७॥
मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः सन्धिरेव च।
पञ्चतन्त्रात्तथान्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते॥ ८॥

अथ कथामुखम्

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम्[१]। तत्र सर्व[२]-स्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत्। स भूपति[३]रेकदा[४] केनापि पठ्यमानं[५] श्लोकद्वयं शुश्राव—

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥ ९॥
यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता[६]।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु[७] यत्र चतुष्टयम्?॥ १०॥

इत्याकर्ण्यात्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्ग[८]गामिनां शास्त्रानुष्ठानेनोद्विग्नमनाः[९] स राजा चिन्तयामास—

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः[१०]।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुःपीडैव केवलम्॥ ११॥
अजात-मृत-मूर्खाणां[११] वरमाद्यौ न चान्तिमः।
सकृद् दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे॥ १२॥[१२]

किं च—

१. 'नामधेयनगरम्' इति पी.पी., पाटलिपुरन्नाम नगरम् इत्यन्यत्र।
२. 'सर्व' इति क्वचिन्नास्ति। ३. नरपति०।
४. एकदा ''प्रासादारूढः पथि गच्छता।'' ५. 'पद्यमानम्' इति पी.पी.।
६. 'अविवेकिता' इति पी.पी.। ७. किं वा। ८. वनित्यप्रत्युन्मार्ग०।
९. 'पुत्राणामनधिगतशास्त्राणामनुष्ठानेनोद्विग्नमनाः' इति पी.पी. पाठः प्रामादिक एव।
१०. '०न विद्वान्न भक्तिमान्' इति पं.क.मु. ६।
११. ०मूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम्। यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत्॥ (शा.प. १४८३, पं.क.मु. ४)।
१२. पी.पी. संस्करणेऽयं श्लोको नास्ति।

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते?॥ १३॥
गुणिगणगणनारम्भे न पतति[१] कठिनी ससम्भ्रमा[२] यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति[३]?॥ १४॥

—पं.क.म.८॥

अपि च—

दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं यशः[४]।
विद्यायामर्थलाभे[५] च मातुरुच्चार[६] एव सः॥ १५॥[७]

अपरं च—

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि[८]।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, न च तारागणोऽपि[९] च॥ १६॥[१०]
पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम्।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो[११] धार्मिकः सुधीः॥ १७॥
अर्थागमो नित्यमरोगिता[१२] च,
प्रिया च[१३] भार्या प्रियवादिनी[१४] च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या,
षड् जीवलोकस्य[१५] सुखानि[१६] राजन्[१७]!॥ १८॥[१८]

—म.भा.उ. ३३.८२॥

१. 'पतति न' इति पी.पी.। २. सुसंभ्रमाद, संसभ्रमाद्, सुसंभ्रमा। ३. नाम। ४. मनः।
५. '०लाभे वा तस्य जन्म निरर्थकम् (शा.प. १४७७)'। ६. मातुरुद्गारः।
७. पी.पी. संस्करणेऽयं श्लोको नास्ति। ८. 'मूर्खशतैरपि', 'न च मूर्खशतं वरम्' इत्यपि पाठः। ९. ०गणा अपि, गणैरपि, ताराशतान्यपि इति पाठभेदाः।
१०. कुत्रचिदयं श्लोको नास्ति। तु० एकं पुत्रं वरं विद्याद् बहुभिर्निर्गुणैस्तु किम्? एकस्तारयते वंशमन्ये सन्तापकारकाः॥ (प.पु. २.१२.३७), एकोऽपि गुणवान् पुत्रो निर्गुणैः किं शतैरपि। एकश्चन्द्रो जगच्चक्षुर्नक्षत्रैः किं प्रयोजनम्॥ (सु. २७३०)। ११. 'सुशीलः'।
१२. '०रोग्यता' इति पी.पी.। १३. 'प्रियश्च' इति पी.पी.। १४. 'प्रियवादिना'।
१५. जीवलोकेषु। १६. हितानि। १७. 'तात' इति पी.पी., कुत्रचित्तु 'सन्ति' इति।
१८. तु. वश्याः सुता वित्तकरी च विद्या नीरोगता सज्जनसंगतिश्च। इष्टा च भार्या वशवर्त्तिनी च दुःखस्य मूलोद्धरणानि पञ्च॥ (सु.र.पृ. १४२)।

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलापूरणाढकैः ?।
वरमेकः कुलालम्बी यत्र[१] विश्रूयते पिता॥ १९॥[२]
यस्य कस्य[३] प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः।
धनुर्वंशविशुद्धो[४]ऽपि निर्गुणः किं करिष्यति॥ २०॥[२]
हा हा पुत्रक! नाधीतं गतास्वेतासु[५] रात्रिषु।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि॥ २१॥[२]

तत् कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम्? यतः[६]

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च सामान्यमेतत्[७] पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो[८] हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः[९]॥ २२॥

यतः—

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि[१०] न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्[११]॥ २३॥[२]

यच्चोच्यते,—

आयुः कर्म च वित्तञ्च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि[१२] सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥ २४॥

—पं. २.८५॥

किं च,—

यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते?॥ २५॥[१३]

---

१. येन। २. पी.पी. संस्करणेऽयं श्लोको नास्ति। ३. यत्र कुः।
४. धनुवंशोऽतिशुद्धो। ५. सुगतैतासु। ६. 'यत्रः' इति कुत्रचिन्नास्ति।
७. समानमेतत्। ८. धर्मे। ९. हीनः पशुभिः समानः।
१०. 'अपि' इति क्वचिन्नास्ति।
११. तु० धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
जन्म-जन्मनि मर्त्येषु मरणं तस्य केवलम्॥ (चा.नी.द.३.२०)।
१२. पञ्चैतानि हि।
१३. तु. नहि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन। करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति॥ (पं. २.१३१)।

एतत्कार्याक्षमाणां केषांचिदालस्य[१]-वचनम्।

न दैवमिति[२] सञ्चित्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाप्तुमर्हति[३]॥ २६॥[४]
यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं[५] पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥ २७॥[६]

तथा च,—

पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति[७] कथ्यते।
तस्मात् पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः॥ २८॥[८]

अन्यच्च,—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी
'दैवेन देय'[९] मिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य[१०] कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥ २९॥

—पं. १.२१७, ३९२, २.१३७॥

यथा मृत्पिण्डतः कर्त्ता कुरुते यद्यदिच्छति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते॥ ३०॥

---

१. 'आलस्यनिबन्धनं वचनम्'।
२. 'दैवमपि'।
३. अनुद्योगेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति।
४. पी.पी. संस्करणेऽयं श्लोको नास्ति। ५. तथा।
६. तु० यथैकेन न हस्तेन तालिका सम्प्रपद्यते।
तथोद्यमपरित्यक्तं न फलं कर्मणः स्मृतम् (पं. २.१३५)।
७. दैवमिह।
८. तु० अभिमतसिद्धिरशेषा भवति हि पुरुषस्य पुरुषकारेण। दैवमिति यदपि कथयसि पुरुषगुणः सोऽप्यदृष्टाख्यः॥ (पं. ५.२९), शेते सह शयानेन गच्छन्तमनुगच्छति। नराणां प्राक्तनं कर्म तिष्ठत्यथ सहात्मना॥ (पं. २. १३३)।
९. 'दैवं हि दैवमिति' इति पी.पी.।
१०. 'विहत्य' इति पी.पी.।

अपरं च—

काकतालीयवत् प्राप्तं दृष्ट्वापि निधिमग्रतः।
न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते॥ ३१॥[१]
उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि, न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य[२] **प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥ ३२॥**[३]

—पं. २.१३८॥

माता[४]**-पितृकृताभ्यासो गुणितामेति बालकः।**
न गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रो भवति पण्डितः॥ ३३॥[५]
माता शत्रुः पिता वैरी येन[६] **बालो**[७] **न पठितः।**
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥ ३४॥
[३]**रूपयौवनसंपन्ना विशालकुलसंभवाः।**
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥ ३५॥[८]
मूर्खोऽपि शोभते तावत् सभायां वस्त्रवेष्टितः।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किंचिन्न भाषते॥ ३६॥[३]

एत्[९]च्चिन्तयित्वा स राजा पण्डितसभां कारितवान्।

राजोवाच—भो भोः पण्डिताः। श्रूयताम्[१०]। अस्ति कश्चिदेवंभूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः ?[११]

१. तु० पश्य कर्मवशात् प्राप्तं भोज्यकालेऽपि भोजनम्।
हस्तोद्यमं विना वक्त्रं प्रविशेन्न कथञ्चन॥ (पं. २.१३६)।
२. 'न हि सिंहस्य सुप्तस्य' इति पं. पाठः।
३. अयं श्लोकः पी.पी. संस्करणे नास्ति।
४. 'मातृपितृ०' इति पाठस्तु न साधुः।
५. बहुत्र नास्त्ययं श्लोकः। ६. याभ्याम्।
७. 'बालो येन' इति पी.पी.। ८. द्र.वृ.चा. २.११।
९. 'एतत् सर्वं' इति पी.पी., 'एतच्च' इति कुत्रचित्।
१०. 'मम वचनम्' इत्यधिकं क्वचित्।
११. ०भूतो यो नाम मम पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म करिष्यति' इति पी.पी.।

यतः—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्[१]**।**
तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम्॥ ३७॥

उक्तं च—

हीयते हि मतिस्तात! हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम्॥ ३८॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा[२] महापण्डितः सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाब्रवीत्-'देव! महाकुलसंभूता[३] एते राजपुत्राः। तन्मया[४] नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते।

यतः,—

नाद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्।
न व्यापारशतेनापि शुकवत् पाठ्यते बकः॥ ३९॥

अन्यच्च,—

अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नापत्यमुपजायते।[५]
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ?॥ ४०॥[६]

अतोऽहं षण्मासाभ्यान्तर एव[७] तव[८] पुत्रान्नीतिशास्त्राभिज्ञान् करिष्यामि।[९] अथ[१०] राजा सविनयं पुनरुवाच—

यथोदयगिरे[११]**र्द्रव्यं संनिकर्षेण दीप्यते।**
तथा सत्संनिधानेन[१२] **हीनवर्णोऽपि दीप्यते॥ ४१॥**

१. मारकतीः द्युतीः। २. 'विष्णुशर्मा नाम' इति व्यस्तपाठोऽपि दृश्यते।
३. 'महाकुलप्रसूताः' इत्यपि पाठः। ४. 'तन्मया' इति नास्ति पी.पी.।
५. 'अस्मिन् न निर्गुणं गोत्रे अपत्यमपि जायते' इति पी.पी.।
६. तु० सद्वंशे दुर्विनीता च सम्भवेन्न कदाचन।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः॥ (ब्र.वै.पु. १.२४.१०)।
७. 'एव' इति बहुत्र नास्ति। ८. 'भवत्' इति पाठभेदः।
९. 'अतः षण्मासाभ्यन्तरे तव-----ज्ञान् अहं करोमि' इति पी.पी.।
१०. 'अथ' इति नास्ति बहुत्र। ११. '०गिरौ' इति पी.पी.।
१२. 'तत्संन्निधानेन' इत्यपपाठः।

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति[१] नद्यः
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः॥ ४२॥

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां[२] नीतिशास्त्रोपदेशाय 'भवन्तः प्रमाणम्' इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणः (करे) बहुमानपुरःसरं पुत्रान्- समर्पितवान्[३]॥

॥ इति कथामुखम्॥

संसारविषवृक्षस्य द्वे फले ह्यमृतोपमे।
सुभाषितरसस्वादः सज्जनानां च संङ्गतिः॥
(हि० १.१५४)

१. 'प्रभवन्ति'।
२. '० पुत्राणामुपचयेधुना भवन्तः' इति पी.पी.।
३. 'तस्य समीपे/विष्णुसमीपे बहुमानपुरःसरं कृत्वा स्वपुत्रान् समर्पयामास' इति पी.पी.।

हितोपदेशः

(अश्लीलाद्यंशविवर्जितः)

प्रबोधचन्द्रिकाव्याख्योपेतः

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुवन्ति दिव्यैः स्तवैः,
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो,
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः॥

अथ प्रस्तावना

ग्रन्थप्रयोजनम्

१. श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च॥

अन्वयः—श्रुतः अयं हितोपदेशः संस्कृतोक्तिषु पाटवम्, सर्वत्र वाचां वैचित्र्यम्, नीतिविद्यां च ददाति।

कोषः

पटुः ६- **दक्षे तु चतुरपेशलपटवः सूत्थान उष्णश्च** (अ. २.१०.१९)।
उक्तिः ६- **व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः** (अ. १.६.१)।
वाक् ७- **ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती** (अ. १.६.१)।
डुदाञ् २३- **ददाति निर्वपति च दधात्यपि च दाशति।**
सनोति दासति दिशत्यात्मने सप्त यच्छति॥
अपवर्जयति स्पर्शयति विश्राणयत्यपि।
वितरत्यर्पयति च चणत्यतिसृजत्यपि॥

ददते राति शणति प्रतिपादयतीति च।
दाने विलभते भ्राजयति श्रणति लाति च॥

—आ०च० २.२.११॥

व्याकरणम्

सन्धिः—श्रुतः+हितोपदेशः=श्रुतो हितोपदेशः, हशि च (६.१.११०) इति उत्त्वम् (श्रुत+उ+हितोपदेशः), आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः। हित+उपदेशः=हितोपदेशः-आद् गुणः इति गुणैकादेशः। हितोपदेशः+अयम्-हितोपदेशोऽयम् - अतो रोरप्लुतादप्लुते (६.१.१०९) इत्युत्त्वम् (हितोपदेश+उ+अयम्) आद् गुणः इति गुणैकादेशः (हितोपदेशो+अयम्), एङः पदान्तादति (६.१.१०५) इति पूर्वरूपम्। संस्कृत+उक्तिः = संस्कृतोक्तिः-आद् गुणः इति गुणैकादेशः।

समासः—हिताय उपदेशा इति हितोपदेशाः, चतुर्थीतत्पुरुषः- चतुर्थी तदर्थार्थ० (२.१.३५), चतुर्थी विधाने तादर्थ्य उपसङ्ख्यानम् (वा. २.३.१३) इति चतुर्थी। हितोपदेशाः सन्ति यस्मिन् ग्रन्थे स **हितोपदेशः**- अर्शआदिभ्योऽच् (५.२.१२७) इति मत्वर्थेऽच्, हितश्चासौ उपदेशश्च हितोपदेशः, कर्मधारयतत्पुरुषः पूर्ववत् अर्शाद्यच्। हितो हितकर उपदेशोऽस्ति यस्मिन् स ग्रन्थो हितोपदेशः- बहुव्रीहिः। संस्कृतस्य उक्तयः संस्कृतोक्तयः, तासु **संस्कृतोक्तिषु,** षष्ठीतत्पुरुषः- षष्ठी (२.२.८)। नीतेर्विद्या **नीतिविद्या** पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुषः।

कृदन्तः—**श्रुतः** श्रु श्रवणे (भ्वा. ६७५) धातोः निष्ठा (३.२.१०२) इति क्तः। **हितः** डुधाञ् धारणपोषणयोः (जु. १०) धातोः पूर्ववत् क्तः, दधातेर्हिः (७.४.४२) इति धा धातोः स्थाने हिरादेशः। **उपदेशः** उप+दिश अतिसर्जने (तु. ३)+घञ्-भावे (३.३.१८), पुगन्तलघूपधस्य च (७.३.८६) इति गुणः। **संस्कृतम्** सम्+सुट्+डुकृञ् करणे (त. १०)+ क्त-निष्ठा इति क्तः, सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे (६.१.१३२) इति सुट्, संपुंकानाम् सत्त्वम् (वा. ८.३.५) इति समः मकारस्य सत्त्वं (सस्+ स्+कृ+त), अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः (८.३.४) इति अनुस्वारागमः, तेन संस्स्कृत इति सिध्यते, ततः झरो झरि सवर्णे (८.४.६४) इति पूर्वसकारस्य लोपो भवति, तेन 'संस्कृत' इति सिद्धम्, ततस्सुः अतोऽम्

(७.१.२४) इति सोरमादेशे, अमि पूर्वः (६.१.१०३) पूर्वरूपैकादेशे संस्कृतमिति निष्पन्नम्। **उक्तिः** वच परिभाषणे (अदा. ५६)+क्तिन्- स्त्रियां क्तिन् (३.३.९४), वचिस्वपि० (६.१.१५) इति सम्प्रसारणम्, सम्प्रसारणाच्च (६.१.१०४) इति पूर्वरूपैकादेशः, चोः कुः (८.२.३०) इति कुत्वम्। **नीतिः** नीयते प्राप्यते स्वेप्सितम् अनया इति नीतिः। णीञ् प्रापणे (भ्वा. ६४२) धातोः णो नः (६.१.६३) इति नत्वम्, ततः पूर्ववत् क्तिन्। **विद्या** विदन्ति जानन्ति पदार्थान् अनयेति विद्या। विद ज्ञाने (अदा० ५७)+क्यप्- संज्ञायां समजनिषद० (३.३.९९), अजाद्यतष्टाप् (४.१.४) इति टाप्।

तद्धितान्तः—**पाटवम्** पटोर्भावः पाटवम्, इगन्ताच्च लघुपूर्वात् (५.१.१३०) इत्यण्, तद्धितेष्वचामादेः (७.२.११७) इति वृद्धिः। **सर्वत्र** सर्व+ङि+त्रल्-सप्तम्यास्त्रल् (५.३.१०), सुपो धातुप्राति० (२.४.७१) इति ङेर्लुक्। **वैचित्र्यम्** विचित्रस्य भावः वैचित्र्यम्, विचित्र+ष्यञ्- गुणवचनब्राह्मणादि० (५.१.१२३) इति ष्यञ्, तद्धितेष्वचामादेः (७.२.११७) इति वृद्धिः यस्येति च (६.४.१४८) इत्यल्लोपः।

सुबन्तः—**अयम्** इदम्+सु-अत्र इदमो मः (७.२.१०८) इति मस्य मादेशः, तेन त्यादादीनामः (७.२.१०२) इति मस्याकारादेशो न भवति, इदोऽय् पुंसि (७.२.१११) इति इद्भागस्य अय्-आदेशः (अय्+अम्+स्), हल्ङ्याब्भ्यो० (६.१.६६) इति सोर्लोपः।

तिङन्तः—**ददाति** डुदाञ् दाने (जु. ९) धातोः वर्तमाने लट् (३.२.१२३), ततः तिप्-शपौ, शपश्च जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२.४.७५) इति श्लुः श्लौ (६.१.१०) इति धातोर्द्वित्वम्, पूर्वोभ्यासः (६.१.४), ह्रस्वः (७.४.५९) इत्यभ्यासस्य ह्रस्वादेशः।

च—अर्थवत्वात् च-प्रातिपदिकात् सुः (च+स्), चादयोऽसत्वे (१.४.५७) इति चस्य निपातसंज्ञा, निपातत्वात् तस्य स्वरादिनिपातमव्ययम् (१.१.३६) इति अव्ययसंज्ञा, अतः अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) इति चात् सोर्लोपः (च)। प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१.१.६१) इति प्रत्ययनिमित्तकार्ये सति सुप्तिङन्तं पदम् (१.४.१४) इति चस्य पदसंज्ञा भवति। तेन सः प्रयोगार्हः-अपदं न प्रयुञ्जीत (म.भा.) इत्युक्तत्वात्।

अग्रेऽपि न, हि इत्येवमादीनां निपातानामपि विषयो बोद्धव्यः।

अन्वयार्थः—श्रुतः[1]=श्रवणमननादिभिः गुरोरधीतः, बहुभिः श्रुतो लोकप्रसिद्धो वा अयम्=एषः बुद्धिस्थः सन् हितो[2]पदेशः=एतन्नामायं ग्रन्थः संस्कृतो[3]क्तिषु=संस्कृतभाषाभाषणेषु, पाटवम्=कुशलताम् ददाति= प्रयच्छति, शिक्षयति, तथैव सर्वत्र=शाब्दिकव्यवहारे वाचाम्[4] वाणीनाम्, वैचित्र्यम्=निपुणताम् ददाति च, किञ्च नीति[5]विद्याम्=सामदान-भेददण्डात्मकसर्वविधज्ञानं च शिक्षयति।

भाषार्थः—लोक प्रचलित अथवा गुरुमुख से विधिवत् पढ़ा हुआ यह हितोपदेश नामक ग्रन्थ अध्येताओं को संस्कृतभाषा के बोलने में पटुता तथा सब जगह वाक्य रचना की अद्भुत रीति और अनेक विध नीति विद्या को सिखाता है।

नीतिः

हितोपदेशं श्रुणुयात् कुर्वीत च यथोदितम्।
विदुरोक्तमकृत्वाभूत् कौरवः शोकशल्यभाक्॥ १॥
परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम्॥ २॥



विद्यामहत्वम्

२. अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरतेत्॥

अन्वयः—प्राज्ञः अजरामरवत् विद्याम् अर्थं च चिन्तयेत्। मृत्युना केशेषु गृहीत इव धर्ममाचरेत्।

---

१. श्रुतमाकर्णिते शास्त्रे (मे. १६.६७, हैमः २.२०७)।
२. हितं पथ्ये गते धृते (मे. १६.७६, हैमः २.२१४)।
३. संस्कृतः कृत्रिमे शस्ते भूषितेऽप्यन्यलिङ्गकः। क्लीबं तु लक्षणोपेते (मे. १६.१६६)।
४. वाक् वाचे भारत्यां वचने स्त्रियौ (मे. ६.९)।
५. नीतिर्नये प्रापणे च (हैमः २.१७९)।

कोषः

जरा २- **विस्रसा जरा** (अ. २.६.४१)।

प्राज्ञः २२- **विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः।**
धीरो मनीषी ज्ञः प्रज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः॥
धीमान् सूरिः कृती कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः।
दूरदर्शी दीर्घदर्शी (अ० २.७.५,६)

अर्थः १३- **द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसुः।**
हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमर्थरैविभवा अपि॥ (अ० २.९.९०)

अनुत्तमः १७- **क्लीबे प्रधानं प्रमुखं प्रवेकानुत्तमोत्तमाः।**
मुख्यवर्यवरेण्याश्च प्रवर्हानवरार्ध्यवत्॥
परार्ध्याग्रप्राग्रहरप्राग्र्याग्र्याग्रीयमग्रियम्।
(अ०३.१.५७, ५८)

केशः ६- **चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः**
(अ० २.६.९५)

मृत्युः १०- **स्यात् पञ्चता कालधर्मो दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः।**
अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनोऽस्त्रियाम्॥
(अ० २.८.११६)

धर्मम् ५- **स्याद् धर्ममस्त्रियाम् पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः** (अ० १.४.२४)

चिन्त् ३- **ध्याने चिन्तयति ध्यायत्यमी भावयति त्रयः**
(आ०च० १.२.१८)

आ+चर् ३- **अनुतिष्ठत्याचरति श्रद्धायुक्तेऽनुसृज्यते।** (आ०च० २.१.४)

व्याकरणम्

सन्धिः—प्राज्ञः+विद्याम्=प्राज्ञो विद्याम्- हशि च (६.१.११०) इति उत्वम्, ततः आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः। गृहीतः+इव=गृहीत इव-भोभगो० (८.३.१७) रोर्यत्वम्, तस्य च लोपः शाकल्यस्य (८.३.१९) इति लोपः।

समासः—न विद्यते जरा यस्य स **अजरः**-नञ्बहुव्रीहिः। अजरश्चासौ

अमरश्च **अजरामरः,** कर्मधारयः-विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (२.१.५६)।

कृदन्तः—**जरा** जीर्यन्तेऽनयेति जरा, जृष् वयोहानौ (दि. २१) धातोः षिद्भिदादिभ्योऽङ् (३.३.१०४) इत्यङ्, ऋदृशोऽङि गुणः (७.४.१६) इति गुणः, ततः टाप्, न जीर्यते इत्यजर इति वा। **अमरः** न म्रियते इत्यमर, नञि उपपदे मृङ् प्राणत्यागे (तु. ११३) धातोः पचाद्यच् (३.१.१३४), सार्वधातु-कार्धधातुकयोः (७.३.८४) इति गुणः। **प्रज्ञः** प्रकृष्टेन जानातीति प्रज्ञः, प्र+ज्ञा+क—इगुपधज्ञा० (३.१.१३५), आतो लोप इटि च (६.४.६४) इत्याकारस्य लोपः। **विद्या** द्र. श्लोकः-१। **अर्थः** अर्थ्यत इति, अर्थ उपयाच्ञायाम् (चु. ३२६) धातोः अकर्त्तरि च० (३.३.१९) इति घञ्। **गृहीतः** ग्रह उपादाने (क्रया० ६४) धातोः निष्ठा (३.२.१०२) इति क्तः, स च तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३.४.७०) इति कर्मणि जातः, आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७.२.३५) इतीट्, तस्य च ग्रहोऽलिटि दीर्घः (७.२.३७) इति दीर्घः। **केशः** के शिरसि शरते इति केशाः, अन्येभ्योऽपि दृश्यते (वा० ३.२.१०१) इति डः, हलदन्तात्० (६.३.८) इत्यलुक्। कस्य शिरसः ईशो वा केशः।

तद्धितान्तः—**अजरामरवत्** अजरामरेण तुल्यम् इति, तेन तुल्यं० (५.१.११४) इति वतिः। **प्राज्ञः**- प्रज्ञ एव प्राज्ञः, प्रज्ञादिभ्यश्च (५.४.३८) इत्यण् स्वार्थे।

सुबन्तः—**केशेषु** केशप्रातिपदिकात् सप्तम्या बहुवचनं सुप्, तस्मिन् परतः बहुवचने झल्येत् (७.३.१०३) इति एत्वम्, ततः आदेशप्रत्यययोः (८.३.५९) इति मूर्धन्यः। **मृत्युना** मृत्युप्रातिपदिकात् अनभिहिते कर्त्तरि तृतीया- कर्तृकरणयोस्तृतीया (२.३.१८), तस्याः स्थाने आङो नास्त्रियाम् (७.३.११९) इति नादेशः।

तिङन्तः—**चिन्तयेत्** चिति स्मृत्याम् (चु. २), इदितो नुम् धातोः (७.१.५८) इति नुम्, सत्याप०......चुरादिभ्यो णिच् (३.१.२५) इति चिन्त्-धातोः णिच्, सनाद्यन्ता धातवः (३.१.३२) इति णिजन्ताद् धातोः विधिनिमन्त्रणा० (३.३.१६१) इति लिङ्, तस्य च स्थाने तिप्, तिपि च कर्त्तरि शप् (३.१.६८) इति शप्, यासुट् परस्मै० (३.४.१०३), सुट् तिथोः (३.४.१०७), इतश्च (३.४.१००) इति तिपः इकारस्य लोपः,

स्कोः संयोगाद्यो० (८.२.२९) इति यासुट्सुटोः सकारस्य लोपः, अतो येयः (७.२.८०) इति 'या' इत्यस्य स्थाने इयादेशः [चिन्ति अ इ त्], सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः, एचोऽयवायावः (६.१.७५) इत्ययादेशः, आद् गुणः (६.१.८४) इति अकार-इकारयोः स्थाने गुणैकादेशः। **आचरेत्** आङ्पूर्वात् चर भक्षणे च (भ्वा० ३७६) धातोः विधिलिङि चिन्तयेद्वद् अवगन्तव्यम्।

अन्वयार्थः—प्राज्ञः=विद्वान्, धीमान् पुरुषः, अजरामरवत्=अजरवत् अमरवच्च[1] जरामरणविहीन इव विद्याम्=इहलौकिकपारलौकिकसाध्य-साधिकाम्, चिन्तयेत्=अभ्यस्येत् [च=तथैव] अर्थम्[2]=वित्तं च=अपि चिन्तयेत्=उपार्जयेत्। [परन्तु धर्मः तथा नाचरणीयः, पुनः कथं?] मृत्युना[3]= कालधर्मेण केशेषु[4]=शिरोरुहेषु, गृहीतः=उपात्तः, निगीर्णः तद्ग्रासग्रसितः इव=तुल्यम् धर्मम्[5]=सुकृतम्, आचरेत्=व्यवहरेत्।

भाषार्थः—बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष अपने को जरामरणरहित के समान मानकर विद्या और धन का सञ्चय करना चाहिये, (परन्तु) धर्म (पुण्य) का सञ्चय तो अपने को मृत्यु के ग्रासग्रसित अर्थात् क्षणिक समझ कर करना चाहिये। अर्थात् धर्मानुष्ठान में वृद्धत्वादि काल की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए, अपितु ज्ञानोदय के समय से ही धर्म सेवनीय है। पर विद्या और धन के सञ्चय में अपने जीवन को क्षणिक नहीं समझना चाहिए, अपितु अपने को अजर, अमर मानते हुए उनका उपार्जन करना चाहिए।

---

१. द्वन्द्वादिः द्वन्द्वान्तः प्रत्येकेनाभिसम्बन्धः इति न्यायेन वत्प्रत्ययः प्रत्येकेन सह अभिसम्बन्धितो भवति।

२. अर्थो विषयार्थनयोर्धनकारणवस्तुषु।
अभिधेये च शब्दानाम् निवृत्तौ च प्रयोजने॥ (मे. १७.२)।

३. मृत्युर्ना मरणे यमे (मे. २६.४६)।

४. केशः स्यात् पुंसि वरुणे ह्रीबेरे कुन्तलेऽपि च। (मे. ३०.५)।

५. धर्मोऽस्त्री पुण्य आचारे स्वभावोपमयोः क्रतौ।
अहिंसोपनिषन्न्याये ना धनुर्यमसोमपे॥ (मे. २५.१६)।

नीतिः

अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिन्तयेत्—

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च साधयेत्।
क्षणत्यागे कुतो विद्या कणत्यागे कुतो धनम्॥ ३॥
गतेऽपि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधैः।
इह चेत्स्यान्न फलदा फलदा सान्यजन्मनि॥ ४॥

—सु. २७४५॥

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥ ५॥

—भर्तृ. ३.७५॥

यावत्स्वस्थो ह्ययं देहो यावन्मृत्युश्च दूरतः।
तावदात्महितं कुर्यात् प्राणान्ते किं करिष्यति॥ ६॥

—चा.नी.द. ४.४॥

दिवसेनैव तत् कुर्यात् येन रात्रौ सुखं वसेत्।
अष्टमासेन तत् कुर्यात् येन वर्षाः सुखं वसेत्॥
पूर्वे वयसि तत् कुर्यात् येन वृद्धः सुखं वसेत्।
यावज्जीवेन तत् कुर्यात् येन प्रेत्यः सुखं वसेत्॥ ७॥

—वि.नी. ३.६७, ६८॥



३. सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा॥

अन्वयः—सर्वदा अहार्यत्वात् अनर्घत्वात् अक्षयत्वात् च सर्वद्रव्येषु विद्या एव अनुत्तमं द्रव्यम् (अस्तीति) आहुः (मनीषिणः)।

कोषः

सर्व १४- **अथ समं सर्वम्॥**
विश्वमशेषं कृत्स्नं समस्तनिखिलाखिलानि निःशेषम्।
समग्रं सकलं पूर्णमखण्डं स्यादनूनके॥ (अ. ३.१.६४,६५)

द्रव्यं १३- द्र० अर्थः (श्लोक २)।

क्षयः २- **क्षये क्षिया** (अ. ३.२.७)।

सर्वदा २- **सर्वदा सदा** (अ. ३.४.२२)।

ब्रू(आहु)२३- **आचष्टे वक्ति वदति रपत्याख्याति भाषते।**
ब्रूतेऽभिधत्ते गदति व्याहरत्यपि जल्पति॥
ब्रवीत्यभिदधाति व्याहरते कथयत्यपि।
गृणात्युदीरयत्युक्तौ कीर्तयत्यालपत्यपि।
भणत्यपि वचत्येके वाचत्यपि शंसति॥ (आ०च० १.४.१)

व्याकरणम्

सन्धिः—विद्या+एव=विद्यैव, वृद्धिरेचि (६.१.८५) इति वृद्धिरेकादेशः। अहार्यत्वाद्, अनर्घत्वाद् इत्युभयत्र **'झलां जशोऽन्ते'** (८.२.३९) इति तकारस्य स्थाने दकारः। अक्षयत्वात्+च=अक्षयत्वाच्च, स्तोः श्चुना श्चुः (८.४.३९) इति तस्य चत्वम्।

समासः—सर्वाणि च तानि द्रव्याणि चेति सर्वद्रव्याणि, तेषु **सर्वद्रव्येषु**—कर्मधारयः। यतश्च निर्धारणम् (२.३.४१) इति सप्तमी। न विद्यते उत्तमो यस्मादिति **अनुत्तमम्**—नञ्बहुव्रीहिः- अनेकमन्यपदार्थे (२.२.२४), नलोपो नञः (६.३.७२) (अ+उत्तम), तस्मान्नुडचि (६.३.७३) इति नुट्। न हार्य इति **अहार्यः**—नञ्तत्पुरुषः (२.२.६)। न विद्यते अर्घो मूल्यं यस्य स **अनर्घः**—नञ्बहुव्रीहिः। न विद्यते क्षयो नाशो यस्य स **अक्षयः**।

कृदन्तः—उत्ताम्यतीति **उत्तमः,** उत्+तमु काङ्क्षायाम् (दि. ९२) धातोः पचाद्यच् (३.१.१३४), उत्तम्यति इति वोत्तमः भावे घञ्, तस्मिन् नोदात्तोपदेशस्य० (७.३.३४) इति वृद्धेरभावः। हर्तुं योग्यो **हार्यः** हृञ् हरणे (भ्वा. ६४०) धातोः ऋहलोर्ण्यत् (३.१.१२४) इति ण्यत्, अचो

ञ्णिति (७.२.११५) इति वृद्धिः, उरण् रपरः (१.१.५०)। अर्ह्यतेऽनेनेति **अर्घः** अर्ह पूजायाम् (भ्वा० ४९२) धातोः हलश्च (३.३.१२१) इति घञ्, न्यङ्क्वादीनां च (७.३.५३) इति कुत्वम्। क्षीयत इति **क्षयः,** क्षि क्षये (भ्वा० १४५) धातोः एरच् (३.३.५६), सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः, ततोऽयादेशः (६.१.७५)।

तद्धितान्तः—द्रव्यम् द्रुरिव द्रव्यम्, द्रुप्रातिपदिकात् यत्प्रत्ययः-द्रव्यम् च भव्ये (५.३.१०४) इति, ओर्गुणः (६.४.१४६) इति गुणः, वान्तो यि प्रत्यये (६.१.७६) इत्यवादेशः। **उत्तमम्** अतिशयेनोत्कृष्टं इत्युत्तमः उच्छब्दात् अतिशायने तमबिष्ठनौ (५.३.५५) इति तमप् प्रत्ययः। अहार्यानर्घाक्षयशब्देभ्यः तस्य भावस्त्वतलौ (५.१.११८) इति त्वप्रत्यये **अहार्यत्वम्, अनर्घत्वम्, अक्षयत्वमिति** निष्पद्यन्ते, ततः तेभ्यः विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् (२.३. २५) इति हेतौ पञ्चमीविभक्तिः। **सर्वदा**—सर्वप्रातिपदिकात् सर्वैकान्यकिंयत्तदःकाले दा (५.३.१५) इति दाप्रत्ययः। तद्धितश्चासर्वविभक्ति (१.१.३७) इत्यव्ययसंज्ञकत्वात् सुविभक्तेर्लुक्-अव्ययादासुपः (२.४.८२)।

तिडन्तः—आहुः ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (अदा. ३७) धातोर्लट्, तस्य स्थाने झिः, शपस्तु अदिप्रभृति० (२.४.७२) इति लुक्, ब्रुवः-पञ्चानामादित आहो ब्रुवः (३.४.८४) इति झेरुसादेशः ब्रुवश्चाहः (आह्+उस्=आहुः)।

अन्वयार्थः—सर्वदा=सर्वेष्वपि कालेषु अहार्यत्वात्= चोरादिभिर्हर्तुम-शक्यत्वात्, अनर्घत्वात्=केनापि द्रव्येणासुमयोग्यत्वात्, अक्षयत्वाच्च= व्यये कृते, प्रयुक्तेऽपि अक्षीयमाणत्वाच्च सर्वद्रव्येषु[1]=भूमिसुवर्णरत्नपशुधन-धान्यादिक्रयविक्रयार्हवस्तुषु विद्या एव=शास्त्रीयज्ञानमेव अनुत्तमम्= सर्वश्रेष्ठं, सर्वोत्तमम् द्रव्यम्=धनम् (अस्तीति प्राज्ञाः) आहुः=कथयन्ति।

भाषार्थः—विद्या कभी भी चोरादि के द्वारा न चुरायी जा सकने के कारण से, राजा-धनाढ्य आदि के द्वारा धनादि से न खरीदी जा

१. द्रव्यं तु पित्तले वित्ते पृथिव्यादौ विलेपने।
क्लीबे च भेषजे भव्ये द्रुतिकारे च वाच्यवत्॥ (मे. २६.२९)।
[भव्ये=आत्मवत्त्वे, पात्रत्वे]

सकने के कारण से और पठन-पाठन, चिन्तन एवं मननादि से क्षयरहित होने के कारण से सभी भौतिक मूल्यवान् वस्तुओं में सर्वाधिक मूल्यवान् सर्वोत्तम वस्तु विद्या ही है, ऐसा तत्त्वविद् विद्वनों का कथन है।

नीतिः

सर्वेषु भौतिकपदार्थेषु विद्यैव सर्वश्रेष्ठा।

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं, हाराणचन्द्रोज्वला,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं, नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं, या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं, वाग्भूषणं भूषणम्॥ ८॥

—भर्तृ. १.१५॥

नभसो भूषणं चन्द्रो नारीणां भूषणं पतिः।
पृथिव्या भूषणं राजा विद्या सर्वस्य भूषणम्॥ ९॥
न चोरहार्यं न च राजहार्यं, न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं, विद्या धनं सर्वधनप्रधानम्॥ १०॥
हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान् प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते॥ ११॥

—भर्तृ. नीतिशतक-१५॥

धनस्य यस्यास्ति न राजतो वा, न चौरतो वापि भयं कदाचित्।
विद्याख्यमन्तर्धनमर्जयेत्, तदन्यद्धनं नश्यति सर्वमेव॥ १२॥

—चा०रा० २.३०॥

ज्ञातिभिर्वण्ट्यते नैव चोरेणापि न नीयते।
दाने नैव क्षयं याति विद्यारत्नं महद्धनम्॥ १३॥



४. संयोजयति विद्यैव नीचगापि नरं सरित्।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम्॥

अन्वयः—(यथा) नीचगा अपि सरित् (तृणादिकं) दुर्धर्षं समुद्रं संयोजयति इव नीचगा अपि विद्या एव नरं दुर्धर्षं नृपं संयोजयति अतः परं भाग्यं च संयोजयति।

कोषः

नीचः १०- **विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः।**
निहीनोऽपसदो जाल्मः क्षुल्लकश्चेतरश्च सः॥ (अ. २.१०.१६)

नरः ११- **मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः।**
स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा नरः॥ (अ. २.६.१)

सरित् १६- **अथ नदी सरित्॥**
तरङ्गिणी शैवलिनी तटिनी ह्रदिनी धुनी।
स्रोतस्वती द्वीपवती स्रवन्ती निम्नगापगा॥
कूलङ्कषा निर्झरिणी रोधोवक्रा सरस्वती।
(अ. १.१०.२९, ३०)

समुद्रः १५- **समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः।**
उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः॥
रत्नाकरो जलनिधिर्यादःपतिरपांपतिः॥ (अ. १.१०.१, २)

नृपः ७- **राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः।** (अ. २.८.१)

भाग्यम् ६- **दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः।** (अ. १.४.२८)

संयोजयति २५- **सन्दानयति बध्नाति मूर्वत्यन्दति कीलति।**
पाशयत्यन्तति जुटति सिनुते च कञ्चते॥
कचते टङ्कयति च योजयत्यपि मव्यति।
काञ्चते ग्रन्थयति च सिनाति च सिनोति च॥
संयच्छत्यात्मने षट् स्युर्नह्यत्यपि दधाति च।
युनातीति मवते च बन्धे मवति योजति॥
(आ०च० २.५.१६)

व्याकरणम्

सन्धिः—विद्या+एव=विद्यैव-वृद्धिरेचि (६.१.८५), नीचगा+अपि=

नीचगापि-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७) इति दीर्घैकादेशः। संयोजयति, दुर्धर्षं, नृपं इति सर्वत्रापि मोऽनुस्वारः (८.३.२३) इति मस्यानुस्वारः।

कृदन्तः—नीचगा नीचं गच्छतीति नीचगा, डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते (वा. ३.२.१०१) इति नीचे उपपदे 'गम्लृ गतौ' (भ्वा. ७०९) इति धातोः डः प्रत्ययः, डित्यभस्याप्यनुबन्धकरणसामर्थ्यात् (म.भा. ६.४.१४३) इति टेर्लोपः ततष्टाप् (४.१.४) इति। **नरम्** नृणाति नयति पूर्वपुरुषानुत्तमां गतिमिति नरः। नॄ नये (क्र्या. २६) धातोः पचाद्यच् (३.१.१३४), सार्वधातुकार्ध. (७.३.८४) इति गुणः, तं नरम्। **दुर्धर्षम्** दुःखेन धृष्यते प्राप्यते इति दुर्धर्षः, तं दुर्धर्षम्, दुर्+धृष प्रसहने (चु. २७७) धातोः ईषद्दुःसुषु कृच्छ्रा० (३.३.१२६) इति खल्, सुप् सुपा इति समासः। **नृपम्** नॄन् पातीति नृपः, तं नृपम्, उपपदमतिङ् (२.२.१९) इति उपपदतत्पुरुषः, नृ+पा रक्षणे (अदा० ४९)+आतोऽनुपसर्गे कः (३.२.३) इति कः, आतो लोप इटि च (६.४.६४) इत्यकारलोपः। **भाग्यम्** भज सेवायाम् (भ्वा. ७२४) धातोः ऋहलोर्ण्यत् (३.१.१२४) इति ण्यत्, चजोः कुः० (७.३.५२) इति कुत्वम्। भाग्यं कर्म शुभाशुभम् (अ. ३.३.१५५)।

तद्धितान्तः—अतः पञ्चम्यन्तात् एतच्छब्दात् पञ्चम्यास्तसिल् (५.३.७) इति तसिल् प्रत्ययः, सुपो धातु० (२.४.७१) इति ङसेर्लुक्, एतदोऽन् (५.३.५) इति अन्, आदेशः तद्धितश्चासर्व० (१.१.३७) इत्यव्ययत्वात् अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) इति सोर्लुक्।

सुबन्तः—नृपम् नृप+अम्, अमि पूर्वः (६.१.१०३) इति पूर्वरूपैकादेशः। समुद्रम् आदिषु तथैवावगन्तव्यम्।

तिङन्तः—संयोजयति=सम्+युजिर् योगे (रु. ७) धातोः हेतुमति च (३.१.२६) इति णिच्, पुगन्तलघू० (७.३.८६) इति गुणः, सनाद्यन्ता धातवः (३.१.३२) इति धातुत्वम्, ततो लटः स्थाने तिप्, शपि परतः णिचः स्थाने सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः, अचि अयादेशः (६.१.७५)।

अन्वयार्थः—यथा नीचगा अपि=निम्नदेशगामिन्यपि, सरित्=नदी, (तृणकाष्ठादिकम्) दुर्धर्षम्=दुष्प्राप्यम्, दुखेन प्राप्यं, समुद्रम्=सागरम्,

संयोजयति=संयोगं कारयति, इव तथैव नीचगा अपि=नीचैरधीतापि, विद्या एव=केवलं ज्ञानमेव नरम्[1]=अज्ञानिनं मनुष्यम्, दुर्धर्षम्=दुष्प्रापम्, नृपम्=राजानम्, संयोजयति=प्रापयति। अतः=इतः, परम्[2]=अनन्तरम्, भाग्यम्=भागधेयम्[3], दैवञ्च संयोजयति=प्रापयति, विद्यैव दुर्गम्यं पार्थिवादिकं स्वामिनं सम्प्राप्य विदुषे सम्मानं धनलाभादिकं सर्वत्र विदधातीति तत्त्वम्।

भाषार्थः—जैसे नदी निम्न प्रदेश में प्रवाहित होती हुई तुच्छ तृणादि को भी दुष्प्राप्य समुद्र जा मिला देती है, ठीक वैसे ही अधम पुरुष को भी प्राप्त होती हुई विद्या, उस पुरुष को दुष्प्राप्य राजा से जा मिला देती है तथा उसे सम्मान धनादि प्राप्त करा कर उसके भाग्य का उदय करा देती है।

यहाँ नदी और विद्या की, तृणादि और मनुष्य की, समुद्र और राजा की समानता है।

नीतिः

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्॥ १४॥

—मनु. १०.६५॥

स्वगृहे पूज्यते मूर्खः स्वग्रामे पूज्यते प्रभुः।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥ १५॥



५. विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति, धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

अन्वयः—विद्या (मनुष्याय) विनयं ददाति, विनयात् (मनुष्यः) पात्रतां याति, पात्रत्वात् धनम् आप्नोति, धनात् धर्मम् आप्नोति, ततः सुखम् आप्नोति॥

---

१. नरोऽजे मनुजेऽर्जुने। क्लीबन्तु रामकर्पूरे॥ (मे. २७.५२)।
२. परः श्रेष्ठोऽरिदूरान्योत्तरे क्लीबन्तु केवले (मे. २७.५५)।
३. अतः=तदनन्तरम्, परं भाग्यम्=परमं श्रेष्ठं भाग्यमिति वान्वयः।

कोषः

धनम्- द्र० अर्थः (श्लोक २)।
धर्मः ५- द्र० श्लोक २
धर्मः १- **धर्मस्तु तद्विधिः** (अ० १.६.३)
वेदेन विहितो यज्ञादिः धर्म इत्यर्थः।
सुखम् १२- **मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसम्मदाः॥**
स्यादानन्दथुरानन्दशर्मशातसुखानि च। (अ० १.४.२४, २५)
ददाति २३- द्र० डुदाञ् (श्लोक १)।
याति १३- **प्रतिष्ठतेऽञ्चत्ययते व्रजत्ययति गच्छति।**
ऋणोत्यटति यात्येति सरतीयर्ति सर्पति॥ (अ०च० २.३.३२)
आप्नोति ७- **प्राप्तौ प्राप्नोति भवते विन्दत्यवरुणद्धि च।**
आत्मनेऽपि द्वयं भावयते लभत ऋच्छति॥
(आ०च० २.३.६०)

व्याकरणम्

कृदन्तः—विद्या द्र० श्लोक १। **विनयम्** वि-उपसर्गात् णीञ् प्रापणे (भ्वा. ६४२) धातोः एरच् (३.३.५६) इत्यच्प्रत्ययः। (वि+नी+ अ) ततः सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणे एचोऽयवाया० (६.१.७५) इत्ययादेशः, ततः द्वितीयाविभक्तेः एकवचनम् अम्, अमि पूर्वः (६.१.१०३) इति पूर्वरूपैकादेशः। **धनम्** धन धान्ये (जुहो. २१)+ पचाद्यच् (३.१.१३४)। **सुखम्** सुख दुःख तत्क्रियायाम् (चु० ३५७)+ पचाद्यच्।

तद्धितान्तः—पात्रताम् पात्रशब्दात् तस्य भावस्त्वतलौ (५.१.११८) इति तल् प्रत्ययः (पात्र+त), तलन्तः (लिङ्गा० १.१७) इति स्त्रीत्वम्, ततष्टाप्- अजाद्यतष्टाप् (४.१.४), अमि पूर्वः (६.१.१०३)। **पात्रत्वात्** पात्रशब्दात् तस्य भाव० (५.१.११८) इति त्वप्रत्ययः। ततः पञ्चम्या ङसेः स्थाने टाङसिङसा० (७.१.१२) इति आत् आदेशः, झलां जशोऽन्ते (८.२.३९) इति तस्य दकारादेशः। **ततः** पञ्चम्यन्तात् तद्-शब्दात् पञ्चम्यास्तसिल् (५.३.७) इति तसिल्प्रत्ययः (तत्+ङसि+तस्), तद्धिताः (४.१.७६), कृत्तद्धितसमासाश्च (१.२.४६) इति प्राति-

पदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२.४.७१) इति ङसेर्लुक् (तत्+तस्), प्राग् दिशो विभक्तिः (५.३.१) इति तसः विभक्तित्वात् त्यदादीनामः (७.२. १०२) इत्यकारोऽन्तादेशः (त अ तस्), अतो गुणे (६.१.९४) इति पररूपैकादेशः (ततस्), ततः सुः (ततस् सुँ=स्) तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१.१.३७) इत्यव्ययत्वाद् अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) इति तस्य लुक्। प्रत्ययलोपे प्रत्यय० (१.१.६१) इति प्रत्ययलक्षणं मत्वा सुप्तिङन्तं पदम् (१.४.१४) इति पदसंज्ञायां सत्यां ससजुषो रुः (८.२.६६) इति रुत्वम् (ततर्), खरवसानयोर्विस० (८.३.१५) इति विसर्जनीयः।

तिङन्तः—**ददाति** डुदाञ् दाने (जुहो. ९) धातोः वर्तमाने लट् (३.२.१२३) इति लट्प्रत्ययः, तस्य च स्थाने तिबाद्युत्पत्तिः (दा+ति), तिपि परतः कर्तरि शप् (३.१.६८) इति शप्, तस्य च जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२.४.७५) इति श्लुः, श्लौ (६.१.१०) इति धातोः द्वित्वम् (दा दा ति), ह्रस्वः (७.४.५९) इत्यभ्यासस्य ह्रस्वत्वम् (द दा ति)। **याति** या प्रापणे (अदा० ४२) धातोर्लटः स्थाने तिप् (या+ति), पूर्ववच्छप्, तस्य च अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२.४.७२) इति लुक् (याति)। **आप्नोति** आप्लृ व्याप्तौ (स्वादि. १५) धातोर्लटः स्थाने तिप्, स्वादिभ्यः श्नुः (३.१.७३) इति श्नुर्विकरणः प्रत्ययः (आप्+नु+ति), तिपि सार्वधातुके परतः सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणे (आप्नोति) इति सिद्धो भवति।

अन्वयार्थः—विद्या=शास्त्रादिज्ञानं मनुष्याय विनयम्=सौजन्यम्, सज्जनताम्, नम्रतां ददाति=प्रयच्छति, विद्यायुक्तो मनुष्यो विनीतो भवतीति यावत्। विनयात्=नम्रो नरो विनयकारणात् पात्रताम्[१]=योग्यताम्, सत्पात्रताञ्च याति=लभते। पात्रत्वात्=सत्पात्रत्वात्, योग्यत्वात् दानादिसमर्पणयोग्यत्वात् विश्वासपात्रत्वाद्वा-पात्रभूतः स मनुष्यो धनम्[२]=द्रविणम्, आप्नोति=ऋच्छति। धनात्=न्यायोपार्जिताद् वित्ताद् धर्मम्[३]=यज्ञदानादीनि पुण्यानि सुकृतानि कर्माणि कर्तुं प्रभवति मनुष्यः, (धरति लोकान् ध्रियते

१. पात्रं तु कूलयोर्मध्ये पर्णे नृपतिमन्त्रिणि॥
योग्यभाजनयोर्यज्ञभाण्डे नाट्यानुकर्त्तरि। (हैमः २.४४०, ४४१)

२. धनं तु गोधने वित्ते (मे० २०.१२);

३. धर्म (द्र. श्लोक २. पृ० २९)।

वा जनैरिति धर्मः)। ततः=धर्मानुष्ठानात् सुखम्[१]=इहलौकिकपारलौकिकसुखम् आनन्दं चानुभवति। अतो विद्या सर्वसुखसाधनमिति भावः।

भाषार्थः—विद्या मनुष्य को नम्र वा सज्जन बनाती है अर्थात् विद्या पढ़ने से मनुष्य सुसंस्कारवान् बनता है। नम्रता, सज्जनता के कारण ही मनुष्य सत्पात्र बनता है, विश्वासपात्र बनता है। सत्पात्रता वा विश्वासपात्रता के कारण से मनुष्य राजादि से विपुल धन प्राप्त करता है। धन से, आर्थिक सामर्थ्य से यज्ञ, दान, परोपकार आदि धर्म कार्य करता है। ऐसे धर्मानुष्ठान से, पुण्य कार्यों से आत्म-शक्ति को, सुख वा आनन्द को प्राप्त करता है। इस प्रकार विद्या सभी कार्यों को सिद्ध करने का साधन है।

नीतिः

सद्विद्या यदि का चिन्ता वराकोदरपूरणे। १६॥

—शा०प० ४७३॥

श्रियः प्रदुग्धे विपदो रुणद्धि यशांसि सूते मलिनं प्रमार्ष्टि।
संस्कारशौचेन परं पुनीते शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः॥ १७॥

—वि० ना० १.८॥

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते, कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्। लक्ष्मी तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्त्तिं, किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥ १८॥ —भो० प्र० ५॥

सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव॥ १९॥

—रघु. १०.७१॥[२]

आत्मा तु पात्रतां नेयः पात्रमायान्ति सम्पदः॥ २०॥

—सु० २६६५॥

विद्यया स्फीयते ज्ञानं ज्ञानात् तत्त्वनिदर्शनम्।
दृष्टतत्त्वो विनतात्मा सर्वार्थस्य च भाजनम्॥ २१॥

—म०भा०अनु० १४५॥

१. सुखं शर्मणि नाके च सुखा पुर्यां प्रचेतसः (मे० २.८)।

२. भलीभांति विद्या प्राप्त करने से मनुष्य को ज्ञान और विनयशीलता दोनों ही मिलती हैं।

शक्यं विद्याविनीतेन लोके संजीवनं शुभम्।
आत्मानं विद्यया तस्मात् पूर्वं कृत्वा तु भाजनम्॥
वश्येन्द्रियो जितक्रोधो भूतात्मानं तु भावयेत्॥ २२॥
—म०भा०अनु० १४५॥

सा विद्या या मदं हन्ति सा श्रीर्यार्थिषु वर्षति।
धर्मानुसारिणी या च सा बुद्धिरभिधीयते॥ २३॥ —दर्प० ३.३॥
विवेकः सह सम्पत्त्या विनयो विद्यया सह।
प्रभुत्वं प्रश्रयोपेतं चिह्नमेतन्महात्मनाम्॥ २४॥ —स.सु.र. ७९॥



६. विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाद्रियते सदा॥

अन्वयः—शस्त्रस्य विद्या शास्त्रस्य विद्या (चेति) द्वे विद्ये प्रतिपत्तये (प्रसिद्धे विद्येते)। (तयोः) आद्या वृद्धत्वे हास्याय (कल्पते), द्वितीया (तु) सदा (जनैः) आद्रियते।

कोषः

शस्त्रम् ४-	**आयुधं तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रम्** (अ० २.८.८२)।
आद्यः ५-	**पुंस्यादिः पूर्वपौरस्त्यप्रथमाद्याः** (अ० ३.१.८०)।
हास्यम् ३-	**अथो हसः॥ हासो हास्यं च** (अ० १.७.१८, १९)।
हास्यम् ५-	**तत्र हासो हसो हास्यं घर्घरं हासिका स्त्रियाम् (शब्दार्णवः)।**
वृद्धत्वम् २-	**स्यात् स्थाविरं तु वृद्धत्वम्** (अ० २.६.४०)।
सदा २-	द्र. सर्वदा (श्लोक ३, पृ० ३१)।
आद्रियते ५-	**सम्मन्यते त्वाद्रियते सम्भावयति सूर्क्षति।** **सत्करोत्यादरेऽपि स्युः॥** (आ०च० २.२.७)।

व्याकरणम्

सन्धिः—द्वितीया+आद्रियते=द्वितीयाद्रियते-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७) इति सवर्णदीर्घैकादेशः।

कृदन्तः—शस्त्रस्य दाम्नीशसयुयुज० (३.२.१८२) इति शसु हिंसायाम् (भ्वा० ४८२) धातोः ष्ट्रन् प्रत्ययः, षः प्रत्ययस्य (१.३.६) इति षकारस्य इत्वे तस्य लोपः (१.३.९) इति लोपे सति 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' (वा.) इति टकारस्य तकारोऽवतिष्ठते, हलन्त्यम् (१.३.३) इति नस्य लोपे 'त्र' इत्यवशिष्यते (शस्+त्र=शस्त्र), षष्ठी शेषे (२.३.५०) इति षष्ठी विभक्तिः, पुनः टाङसिङसा० (७.१.१२) इति ङसः स्थाने 'स्यः' आदेशः। शसति हिनस्ति येन तत् शस्त्रम्। **शास्त्रस्य** शासुअनुशिष्टौ (अदा. ६८) इति धातोः सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् (उणादि. ४.१६०) इति ष्ट्रन्। शेषं सर्वं पूर्ववत्। **प्रतिपत्तये** प्रत्युपसर्गात् पद गतौ (दिवादि. ५८) धातोः स्त्रियां क्तिन् (३.३.९४) इति क्तिन् प्रत्ययः (प्रति+पद्+ति), खरि च (८.४.५४) इति चर्त्वे दस्य तः, ततः ङेविभक्तौ परतः घेर्ङिति (७.३.१११) इति गुणः (प्रतिपत्ते+ए), एचोऽयवायावः (६.१.७५) इत्ययादेशः। **हास्याय** हसे हसने (भ्वा. ४७७) धातोः ऋहलोर्ण्यत् (३.१.१२४) इति ण्यत्प्रत्ययः (हस्+य), अत उपधायाः (७.२.११६) इत्युपधायाः वृद्धिः (हास्य), ततः ङेविभक्तौ (हास्य+ए) ङेर्यः (७.१.१३) ङेः स्थाने यादेशः (हास्य+य), सुपि च (७.३.१०२) इत्यङ्गस्य दीर्घः (हास्याय)। प्रतिपत्तये, हास्याय इत्युभयत्रापि ''तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या'' इति वार्तिकेन चतुर्थी जाता।

तद्धितान्तः—आद्या आदौ भवाद्या, आदिप्रातिपदिकाद् दिगादिभ्यो यत् (४.३.५४) इति यत्प्रत्ययः (आदि+यत्), यस्येति च (६.४.१४८) इति इकारस्य लोपः (आद्+य), ततष्टाप्-अजाद्यतष्टाप् (४.१.४)। **वृद्धत्वे** वृद्धस्य भावः वृद्धत्वम्, वृद्ध+त्व-तस्य भावस्त्वतलौ (५.१.११८), त्वष्यञौ तद्धितौ (लिङ्गा० ३.४) इति त्वप्रत्ययान्तो नपुंसकलिङ्गो भवति, ततः सप्तम्यामेकवचने परतः (वृद्धत्व+ङि) आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः। **द्वितीया** द्वयोः पुरणीति द्वितीया, द्विप्रातिपदिकात् द्वेस्तीयः (५.२.५४) इति तीयप्रत्ययः (द्वि+तीय), ततष्टाप्। **सदा** सर्वस्मिन् काले सदा, सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा (५.३.१५) इति सर्वप्रातिपदिकात् दाप्रत्ययः (सर्व+दा), सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि (५.३.६) इति सर्वस्य स्थाने स आदेशः (सदा), ततः सुः, तस्य च 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (१.१.३७) इत्यव्ययत्त्वाद् अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) इति लुक्।

सुबन्तः—**द्वे** द्वि+औ त्यदादीनामः (७.२.१०२) इत्यकार अन्तादेशः (द्व+औ), गर्भवट्टाबादयो भवन्ति (परि. १३३) इति परिभाषयात्र स्त्रीत्वे औ-विभक्तौ परतः अजाद्यतष्टाप् (४.१.४) इति टाप् (द्व+आ+औ), अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७) इति दीर्घैकादेशः (द्वा+औ), औङः आपः (७.१.१८) इति औकारस्थाने शी आदेशः (द्वा+ई), आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः **विद्ये** विद्या+औ-इह पूर्ववत् शीगुणौ।

तिङ्न्तः—**आद्रियते** आङ्+दृङ् आदरे (तुदादि० १२०)+लट्, तुदादिभ्यः शः (३.१.७७) इति शो विकरणप्रत्ययः (आ+दृ+अ+त), सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः प्राप्यते, परं सार्वधातुकमपित् (१.२.४) विकरणस्य ङित्वात्, क्ङिति च (१.१.५) इति गुणस्य निषेधः, रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७.४.२८) इति धातोः ऋकारस्य स्थाने रिङ् आदेशः (आ+द्रि+अ+त), अचि श्नुधातु० (६.४.७७) इतीयङादेशः (आद्रियत), टित आत्मनेपदानां टेरे (३.४.७९) इति टेरेत्वम्।

अन्वयार्थः—शस्त्रस्य[1]=शत्रुभ्यःस्वरक्षणायोपयुक्तायुधानाम् विद्या= सञ्चालनकुशलता, शास्त्रस्य[2]=विधिनिषेधादिना लोकशासनाय आप्त-विरचितवाङ्मयस्य विद्या=विज्ञानम् च इति=एतादृश्यौ द्वे अपि विद्ये मनुष्याणां प्रतिपत्तये[3]=अभीष्टकार्यसिद्धयर्थं प्रख्याते विद्येते। तयोर्मध्ये आद्या=पूर्वोक्ता शस्त्रविद्या वृद्धत्वे[4]=वार्धक्ये, शारीरिकशैथिल्यावस्था-याम्, शक्तिक्षये सति इति यावत्। हास्याय=उपहासाय कल्पते, सम्पद्यते, परं द्वितीया[5]=प्रथमातिरिक्तापरा विद्या तु सदा=सततम् जनैः आद्रियते= सम्मान्यते, सम्मानिता भवति।

भावार्थः—मानव समाज में अपने अभीष्ट कार्यसिद्धि के लिए

१. शस्त्रं लौहास्त्रयोः क्लीबं छुरिकायान् तु योषिति (मे० २७.८७)।
२. शास्त्रं ग्रन्थनिदेशयोः (हेम० २.४६५)।
३. प्रतिपत्तिः प्रवृत्तौ च प्रागल्भ्ये गौरवेऽपि च।
सम्प्राप्तौ च प्रबोधे च पदप्राप्तौ च योषिति। (मे० १६.२११)।
४. वृद्धो जीर्णे प्रवृद्धे ज्ञे त्रिषु क्लीबं तु शैलजे। (मे० १९.१८)।
वृद्धः प्राज्ञेः स्थविरे च वृद्धं शैलेयरूढयोः। (हैम० २.२५४)।
५. द्वितीया तिथिगेहिन्योर्द्वितीयः पूरणे द्वयोः (है० ३.५१९)।

उपयुक्त दो विद्यायें प्रचलित हैं, वे हैं—शस्त्रविद्या और शास्त्रविद्या। इन दो में से प्रथम अर्थात् शस्त्रविद्या, जो कि युवावस्था में वीरता का द्योतक रही है, वही वृद्धावस्था में, शरीर के शिथिल हो जाने पर, विकलाङ्ग हो जाने पर, सामर्थ्य वा शक्ति से हीन हो जाने पर उपहास का कारण बन जाती है, तेजोमय विद्या निस्तेज के रूप में बदल जाती है। जब कि जो दूसरी शास्त्रविद्या है वह सदा अर्थात् बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक समान रूप से लोगों के द्वारा सम्मानित होती है।

नीतिः

तेजसां हि न वयःसमीक्ष्यते[1] ॥ २५ ॥ —रघु० ११.१[1] ॥
पठतो नास्ति मूर्खत्वं जपतो नास्ति पातकम्।
मौनिनः कलहो नास्ति न भयं चास्ति जाग्रतः ॥ २६ ॥
—सं० सु० र० १५ ॥



७. यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्। कथाछलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते॥

अन्वयः—यत् नवे भाजने लग्नः संस्कारः अन्यथा न भवेत्, तत् इह कथाच्छलेन बालानां (कृते) नीतिः (मया) कथ्यते।

कोषः

नवः ७- **प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः॥**
नूत्नश्च (अ० ३.१.७७, ७८)
भाजनम् ५- **सर्वमावपनं भाण्डं पात्रामत्रं च भाजनम्** (अ० २.९.३३)।
कथा २- **प्रबन्धकल्पना कथा** (अ० १.६.६)।
बाल २- **बालस्तु स्यान्माणवकः** (अ० २.६.४२)।
भवति ३- **सत्तायामस्ति भवति विद्यते** (आ०च० १.१.१)।
कथयति २३- द्र० **आहु** (श्लोक ३, पृ० ३१)।

१. विद्या रूपी तेज से परितप्त तेजस्वी पुरुषों की छोटी या बड़ी अवस्था नहीं देखी जाती। अर्थात् विद्या अवस्थाभेद, लिङ्ग भेदादि भेदों से भिन्न न होती हुई सदा, सर्वत्र सम्मानार्ह होती है।

व्याकरणम्

सन्धिः—यत्+नवे=यन्नवे, यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८.४.४४) इति तस्य नत्वम्। संस्कारः+न=संस्कारो न, हशि च (६.१.११०) इत्युत्वम्, ततः आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः। न+अन्यथा= नान्यथा, अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७) इति सवर्णदीर्घैकादेशः।

समासः—कथायाश्छल इति कथाछलः, तेन **कथाच्छलेन**-षष्ठी (२.२.८) इति षष्ठीतत्पुरुषसमासः।

कृदन्तः—**नवे** णु स्तुतौ (अदादि. २७), णो नः (६.१.६३) इति णस्य नत्वम् (नु), ऋदोरप् (३.३.५७) इत्यप्, अपि च परतः सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः, एचोऽयवायावः (६.१.७५), ततः सप्तम्याः ङौ परतः (नव+इ) आद्गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः। **भाजने** भाज पृथक्कर्मणि (चुरादि० ३११) धातोः ल्युट् च (३.३.११५) इति ल्युट्प्रत्ययः (भाज्+यु), युवोरनाकौ (७.१.१) इति योः स्थाने अनादेशः (भाजन) तस्मिन् भाजने, पूर्ववत् ङौ गुणादेशः। **लग्नः** लगति संयुक्तो भवतीति लग्नः, लगे संगे (भ्वा. ५३५) धातोः 'निष्ठा' (३.२.१०२) इति क्तः प्रत्ययः, क्षुब्धस्वान्तध्वान्तलग्न० (७.२.१८) इति निष्ठाया इडाभावः, नत्वञ्च निपात्यते। **संस्कारः** सम्+डुकृञ् करणे+घञ्-अचो ञ्णिति (७.२.११५) इति वृद्धिः (सम्+कार+अ), सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे (६.१.१३२) इति कात् पूर्वः सुडागमः (सम्+स्+कार्+अ), सम्पुंकानां सत्वम् (वा० ८.३.५) इति मस्य सः (सस्स्कार), अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः (८.३.४) इत्यनुस्वारः (संस्स्कार), झरो झरि सवर्णे (८.४.६४) इति विकल्पेन मध्यसकारस्य लोपः (संस्कार), ततः स्वाद्युत्पत्तौ (संस्कारः)। **कथा** कथ वाक्यप्रबन्धे (चुरादि० २७९) इति णिजन्ताद् धातोः 'चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च' (३.३.१०५) इत्यङ्प्रत्ययः (कथ्+इ+अ), णेरनिटि (६.४.५१) इति णेर्लोपः, ततष्टाप् (कथा)। **छलेन** छो छेदने (दिवादि. ३७)+बाहुलकात् कलप्रत्ययः (उ० १.१०४), आदेच उपदेशेऽशिति (६.१.४४) इत्यात्वम् (छा+अल), आतो लोप इटि च (६.४.६४) इत्याकारलोपः (छ्+अल), ततष्टाविभक्तिः, तस्य च स्थाने 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (७.१.१२) इतीनादेशः

(छल+इन), आद्गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः। **बालानाम्** बल प्राणने (भ्वा. ५८१) इति धातोः ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः (३.१.१४०) इति णप्रत्ययः, अत उपधायाः (७.२.११६) इत्युपधाया वृद्धिः, ततःषष्ठीविभक्तेः बहुवचनम् आम्, ह्रस्वनद्यापो नुट् (७.१.५४), नामि (६.४.३) इति दीर्घः।

तद्धितान्तः—**अन्यथा** अन्येन प्रकारेण विशिष्टोऽन्यथा, अन्य+थाल्-प्रकारवचने थाल् (५.३.२३), तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१.१.३७) इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' (२.४.८२) इति सोर्लुक्। **इह** इदम्+ङि+ह-इदमो हः (५.३.११), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२.४.७१) इति सुपो लुक् (इदम्+ह), इदम इश् (५.३.३) इतीशादेशः (इ+ह), पूर्ववत् अव्ययत्वात्सोर्लुक्।

तिङन्तः—**भवेत्** भू सत्तायाम् (भ्वा० १) धातोः विधिनिमन्त्रणा-मन्त्र० (३.३.१६१) इति लिङ् कर्त्तरि शप् (३.१.६८) इति शप् विकरणः (भू+अ+ल्), लस्यस्थाने तिप्, सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति धातोः गुणः, इतश्च (३.४.१००) इति तिप इकारस्य लोपः (भो+अ+त्), एचोऽयवा० (६.१.७५) इत्यवादेशः (भव+त्), यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च (३.४.१०३) इति तिपो यासुडागमः, सुट् तिथोः (३.४.१०७) इति तस्य सुडागमः (भव+यास्+स्+त्), स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८.२.२९) इति सकारद्वयस्य लोपः (भव+या+त्), अतो येयः (७.२.८०) इति 'या' इत्येतस्य स्थान इयादेशः (भव+इय्+त्), लोपो व्योर्वलि (६.१.६४) इति यकारस्य लोपः, आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशे सिद्धो भवति भवेदिति। **कथ्यते** कथ वाक्यप्रबन्धे (चु० २७९) धातोः सत्याप०चुरादिभ्यो णिच् (३.१.२५), सनाद्यन्ता धातवः (३.१.३२) इति 'कथ+इ' इत्येतस्य धातुसंज्ञा, पुनः धात्वधिकारे वर्तमाने लट् (३.२.१२३) इति लट् प्रत्ययः, स च 'लः कर्मणि च०' (३.४.६९) इति कर्मण्यागतः, तस्य च स्थाने आत्मनेपदस्य प्रथमपुरुषस्यैकवचनम् तः प्रत्ययः, सार्वधातुके यक् (३.१.६७) इति यक् विकरणः (कथ+इ+य+त), अतो लोपः (६.४.४८) इति णिचि अल्लोपः, तस्य च स्थानिवद्भावाद् वृद्धेरभावः [कथि+य+त], णेरनिटि (६.४.५१) इति

णेर्लोपः (कथ्यत), टित आत्मनेपदानां टेरे (३.४.७९) इति टेरेत्वम्।

अन्वयार्थः—यत्[१]=यस्मात् कारणात्, नवे[२]=नूतने, अपक्वे, आर्द्रे वा भाजने[३]=मृद्भाण्डादौ, लग्नः[४]=अङ्कितः, चिह्नितः, संस्कारः=रेखादिकरणम्, अन्यथा=घटे पाकादिविकारेषु सत्स्वपि नाशादिविकृतीभावः, न=नहि, भवेत्=स्यात् (तथा च) यत्=यस्मात् कारणात् नवे=नूतने, विद्यासंस्काररहिते, भाजने=विद्यासंस्कारादिपात्रभूते बालकान्तःकरणे, लग्नः=संयुक्तः, समारोपितः, संस्कारः=विद्यादिसंस्कारः, अन्यथा=शरीरे यौवनादिविकारेषु सत्स्वपि विपरीतो न भवेत्। तत्=तस्मात् कारणाद्, इह=अस्मिन् हितोपदेशनामके ग्रन्थे, कथाच्छलेन[५]=काककूर्ममृगादीनां कल्पितोपाख्यानव्याजेन बालानाम्[६]=विद्यासंस्कारादिज्ञानरहितानां कृते नीतिः[७]= शास्त्रीयव्यावहारिकनयः (मया नारायणपण्डितेन) कथ्यते= उपदिश्यते।

भावार्थः—अपक्व घटादि मृत्पात्रों में किया गया रेखादि चिह्न घट के नष्ट होने तक अक्षुण्ण रहते हैं और वैसे ही कोमल एवं निर्मल अन्तःकरण वाले बालकों में दिये हुए संस्कार भी आजन्म अक्षुण्ण रहते हैं, इसीलिए इस ग्रन्थ में मनोरंजक काककूर्ममृगादि कथाओं के माध्यम से अबोध बालकों के लिए राजनीति, व्यवहारनीति, शास्त्रीयमर्यादादि नीतियों का बोधक उपदेश दिया जा रहा है।

नीतिः

क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति[८] ॥ २७॥ —रघु० ३.२९॥

१. यद् गर्हा हेत्ववधृत्योः (मे० अव्यय० ३९)।
२. नवं नव्ये पुमान् स्तुतौ (मे० २९.१५)।
३. भाजनं योग्यपात्रयोः (मे० २०.१०१)।
४. लग्नं तु लज्जिते। राशीनामुदये सक्ते लक्ष्म प्रधानचिह्नयोः (हैमः २.२८५)।
५. छलं छद्मस्खलितयोः (हैमः २.४९०)।
६. बालो ना कुन्तलेऽश्वस्य करिणश्चापि बालधौ। नारिकेले हरिद्रायां मल्लिकाभिद्यपि स्त्रियाम्॥ वाच्यलिङ्गोऽर्भके मूर्खे ह्रबेरे पुन्नपुंसकम्। अलङ्कारान्तरे मेध्ये बालो बालात्रुटौ स्त्रियाम्॥ (मे० २८.३९, ४०)।
७. नीति—द्र. श्लोक १, पृ० २६।
८. उचित पात्र को दी गई शिक्षा सफल होती है।

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य[१] ॥ २८॥

—माल० १.६॥

स्वस्य भावेन (जन्मना) सह भावो (जन्म) यस्य स स्वभावः। स च यावज्जीवनमविकृतरूपेण तथैवावतिष्ठते। अत एवोच्यते ''स्वभावो नातिरिच्यते''॥ २९॥ उक्तञ्च—

स्वभावो यादृशो यस्य न जहाति कदाचन।
अङ्गारः शतधौतेन मलिनत्वं न मुञ्चति॥ ३०॥
स्वभावं नैव मुञ्चन्ति सन्तः संसर्गतोऽसताम्।
न त्यजन्ति रुतं मञ्जु काकसम्पर्कतः पिकाः॥ ३१॥
स्वभावं न जहात्येव साधुरापद्गतोऽपि सन्।
कर्पूरः पावकस्पृष्टः सौरभं लभतेतराम्॥ ३२॥

—दृ० श० २९.४०॥



८. मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः सन्धिरेव च।
पञ्चतन्त्रात्तथान्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते॥

अन्वयः—(अस्मिन् ग्रन्थे) मित्रलाभः, सुहृद्भेदः, विग्रह, सन्धिः च एव (विषयविभागाः सन्ति, ते च) पञ्चतन्त्रात् तथा अन्यस्माद् ग्रन्थाद् आकृष्य (मया) लिख्यते।

कोषः

मित्रम् ३- **अथ मित्रं सखा सुहृत्** (अ० २.८.१२)।
लाभः ३- **लाभोऽधिकं फलम्** (अ० २.९.८०)।
भेदः २- **भेदोपजापौ** (अ० २.८.२१)।
भेद उपजापोऽन्तरो विच्छेदो द्वैधो विरेकः। विदारणम्
विग्रहः ३१- **युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्॥**

१. योग्य पात्र को यथासमय दी गई शिक्षा वैसे ही सफल होती है, जैसे समुद्र की सीपि में वर्षा के जलबिन्दु गिरकर मोती बन जाती है।

मृधमास्कन्दनं संख्यं समीकं संपरायकम्।
अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ॥
संप्रहाराभिसंपातकलिसंस्फोटसंयुगाः।
अभ्यामर्दसमाघातसंग्रामाभ्यागमाहवाः॥
समुदायः स्त्रियः संयत् समित्याजिसमिद्युधः।

(अ० २.८.१०३-१०६)

सन्धिः २- **सन्धिः श्लेषे** (अ० ३.२.११)।

अन्यः ६- **भिन्नार्थाका अन्यतर एकस्त्वऽन्येतरावपि॥** (अ० ३.१.८२)

आकर्षति ३- **आञ्छत्याकर्ष आकर्षत्यायच्छत्यात्मनेऽप्यदः॥**

(आ०च० २.३.६७)

व्याकरणम्

सन्धिः—सुहृद्भेदः+विग्रहः=सुहृद्भेदो विग्रहः- हशि च (६.१.११०) इत्युत्वम्, आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः। तथा+अन्यस्मात्= तथान्यस्मात्-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७) इति सवर्णदीर्घैकादेशः।

समासः—मित्राणां लाभः प्राप्तिर्यत्र स इति मित्रलाभः- बहुव्रीहिः। सुहृदां भेदो विरोधो यत्र स इति **सुहृद्भेदः** बहुव्रीहिः। पञ्चानां तन्त्राणां समाहारः **पञ्चतन्त्रम्** द्विगुतत्पुरुषः, तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२.१. ५०) इति तत्पुरुषः, अस्य च संख्यापूर्वो द्विगुः (२.१.५१) इति द्विगु-संज्ञा, स नपुंसकम् (२.४.१७) इत्यनेन नपुंसकत्त्वम्, अस्यापवादः अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते (वा० २.४.१७) इति, एषः "पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः" (वा० २.४.१७) इत्यनेन प्रतिषिद्धत्वान्न प्रवर्तते।

कृदन्तः—लाभः डुलभष् प्राप्तौ (भ्वा० ७०२)+घञ्-अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३.३.१९), अत उपधाया (७.२.११६) इति वृद्धिः, लभ्यत इति लाभः। **भेदः** भिदिर् विदारणे (रुधादि० २)+घञ्-भावे (३.३.१८), पुगन्तलघूपधस्य च (७.३.८६) इति गुणः। भेदनमिति भेदः। **विग्रहः** वि+ग्रह उपादाने (क्र्यादि० ६४)+अप्-ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च (३.३.५८), विग्रहणमिति विग्रहः। **सन्धिः** सम्+डुधाञ् धारणपोषणयोः (जु. १०)+कि-उपसर्गे घोः किः (३.३.९२) (सम्+ धा+इ), आतो लोप इटि च (६.४.६४) इत्याल्लोपः (सम्+धि), मोऽनुस्वारः (८.३.२३) इति मकारस्यानुस्वार (संधि), वा पदान्तस्य (८.४.५८) इति मस्य वा परसवर्णः (सन्धि), सन्धानमिति सन्धिः। **आकृष्य** आङ्+कृष विलेखने (भ्वा० ७१६)+क्त्वा- समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३.४.२१), कुगति-प्रादयः (२.२.१८) इति गतिसमासः (तत्पुरुषः), समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७.१.३७) इति क्त्वास्थाने ल्यबादेशः। क्त्वातोसुन्कसुनः (१.१.३९) इत्यव्ययत्वाद् अव्ययादाप्सुपः, (२.४.८२) इति सोर्लुक्त्वम्।

तद्धितान्तः—तथा तद्+थाल्-प्रकारवचने थाल् (५.३.२३), प्राग्दिशो विभक्तिः (५.३.१) इति थालो विभक्तित्वात्, विभक्तौ परतः त्यदादीनामः (७.२.१०२) इत्यकार अन्तादेशः (त अ+था), अतो गुणे (६.१.९४) इति पररूपैकादेशः (त+था+सु), तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१.१.३७) इत्यव्ययत्वाद् अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) इति सोर्लुक्त्वम्।

तिङन्तः—लिख्यते लिख अक्षरविन्यासे (तुदादि० ७४) धातोः वर्तमाने लट् (३.२.१२३), लः कर्मणि च० (३.४.६७) इति लः कर्मणि जातः, तस्य च स्थाने भावकर्मणोः (१.३.१३) इत्यात्मनेपदत्वेन 'तः', सार्वधातुके यक् (३.१.६७) इति यग्विकरणः (लिख्+य+त), यकः कित्वाद् लघूपधस्य गुणस्य निषेधः, टित आत्मनेपदानां टेरे (३.४.७९) इति टेरेत्वम्।

अन्वयार्थः—मद्विरचितेऽस्मिन् हितोपदेशे ग्रन्थे मित्र[1]लाभः=मित्र-प्राप्तिविषयप्रतिपादकः, एतन्नामको ग्रन्थभागः, सुहृद्भेदः[2]=मित्रविरोध-विषयप्रतिपादकः, एतन्नामधेयको ग्रन्थांशः, विग्रहः[3]=एतन्नामको ग्रन्थभागः, यत्र विग्रहो युद्धं प्रतिपादितमस्ति, तथा च सन्धिः= एतद्विषयको ग्रन्थविभागः, यत्र च सन्धिः, मेलनम् पणबन्धो वा वर्णितो विद्यते। एत एव चत्वारो विषया अत्र ग्रन्थीकृताः सन्ति। एते च विष्णुशर्मकृतात्

---

१. मित्रं सुहृदि न द्वयोः। सूर्ये पुंसि स्त्रियां गन्धद्रव्ये दैत्यान्तरे पुमान्।

२. भेदो द्वैधे विशेषे स्यादुपजापे विदारणे इति विश्वमेदिन्यौ।

३. विग्रहो युधि विस्तारे प्रविभागशरीरयोः इति (हैमः ३.८१३)।

पञ्चतन्त्रात्[१]=तन्नामकप्रसिद्धग्रन्थात् तथा[२] अन्यस्मात्[३]=तदितरनीतिग्रन्थेभ्य आकृष्य=संगृह्य, संक्षिप्य च (मया नारायणपण्डितेन) लिख्यते=विरच्यते।

भाषार्थः—मेरे विचरित इस हितोपदेश नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय क्रमानुसार इस प्रकार हैं—१. मित्रलाभ, २. सहृद्भेद, ३. विग्रह, ४. सन्धि। ये चारों विषय विष्णुशर्माकृत पञ्चतन्त्र नामक ग्रन्थ से और अन्य नीतिग्रन्थों से संगृहीत कर संक्षेप से मुझ नारायण पण्डित द्वारा यह ग्रन्थ लिखा जाता है।

अथ कथामुखम्

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम्। तत्र सर्वस्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत्। स भूपतिरेकदा केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव—

कोषः

भागीरथी ८- **गङ्गा विष्णुपदी जह्नुतनया सुरनिम्नगा।**
भागीरथी त्रिपथगा त्रिस्रोता भीष्मसूरपि॥ (अ० १.१०.३१)

तीरम् ५- **कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु।** (अ० १.१०.७)

नामधेयम्, नाम ६- **अथाह्वयः॥**
आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च। (अ० १.६.७,८)

नगरम् ७- **पुः स्त्री पुरीनगर्यौ[४] वा पत्तनं पुटभेदनं।**
स्थानीयं निगमः॥ (अ० २.२.१)

सर्व १४- द्र० श्लोक ३, पृ० ३१।

स्वामी १०- **स्वामी त्वीश्वरः पतिरीशिता॥**
अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः।
(अ० ३.१.१०, ११)

१. तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये स्यात् सिद्धान्ते चौषधोत्तमे। प्रधाने तन्तुवाये च शास्त्रभेदे परिच्छेदे॥ श्रुतिशाखान्तरे हेतावुभयार्थप्रयोजके। इतिकर्तव्यतायां च तन्त्री वीणागुणे मता। अमृतादेहशिरयो: इति (मे० २७.४०-४२)। २. तथाभ्युपगमे पृष्टप्रतिवाक्ये समुच्चये। सदृशे निश्चयेऽपि स्याद् (मे० अव्यय० ३६)। ३. अन्योऽसदृशेतरयो:इति (हैमः २.३४८)। ४. पत्तनसाहचर्यात् नगरशब्दस्य विकल्पेन क्लीबत्वमपि।

नरः ६- द्र० श्लोकः ४, पृ० ३४।

नरपतिः, भूपतिः ७- द्र० नृपः, श्लोक ४, पृ० ३४।

(शुश्राव) श्रृणोति ४- **श्रृणोत्याकर्णयति च तद्वन्निशमयत्यपि।**
निशाम्यतीति श्रवणे॥ (आ०च० १.२.३०)

व्याकरणम्

सन्धिः—गुण+उपेतः=**गुणोपेतः**—आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः। सुदर्शनः+नाम=**सुदर्शनो नाम**—हशि च (६.१.११०) इत्युत्वम् गुणैकादेशश्च पूर्ववत्। केन+अपि=केनापि-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७) इति सवर्णदीर्घैकादेशः।

समासः—भागीरथ्यास्तीरम् इति भागीरथीतीरम्, तस्मिन् **भागीरथीतीरे**—षष्ठीतत्पुरुषः। पाटलिपुत्रो नामधेयं यस्य तत् **पाटलिपुत्रनामधेयम्**—बहुव्रीहिः। स्वामिनो गुणा इति स्वामिगुणाः—षष्ठीतत्पुरुषः, सर्वे च ते स्वामिगुणा इति सर्वस्वामिगुणाः-कर्मधारयतत्पुरुषः, सर्वस्वामिगुणैरुपेतः इति **सर्वस्वामिगुणोपेतः**—तृतीयातत्पुरुषः। नराणां पतिरिति **नरपतिः**—षष्ठीतत्पुरुषः। भुवः पतिरिति **भूपतिः**—षष्ठीतत्पुरुषः। श्लोकयोर्द्वयमिति **श्लोकद्वयम्**—षष्ठीतत्पुरुषः।

कृदन्तः—**तीरे** पार तीर कर्मसमाप्तौ (चुरादि० ३३२)+णिच्+अच्-पचाद्यच् (३.१.१३४), णेरनिटि (६.४.५१) इति णिचो लोपः (तीर), ततः सप्तम्या एकवचनं 'ङि' प्रत्ययः (तीर+इ), आद् गुणः (६.१.८४) तीरयति समापयति नद्यादिकमिति तीरम्। **नगः (नगरम्)** न गच्छतीति नगः[१], न+गम्लृ गतौ (भ्वा० ७०९)+ड-डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते इति (वा० ३.२.४८), अन्येष्वपि दृश्यते (३.२.१०१) इति वा डप्रत्ययः (न+गम्+अ), डित्यभस्याप्यनुबन्धकरणसामर्थ्यात् टिलोपो भवति (६.४.१४३) इति टेर्लोपः (न+ग्+अ=न+ग), नञ् (२.२.६) इति नञ्तत्पुरुषः, नलोपो नञः (६.३.७२) इति प्राप्तस्य नलोपःनगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् (६.३.७६) इत्यनेन प्रतिषिध्यते, ततः स्वाद्युत्पत्तौ नगः। **उपेतः** उप+इण् गतौ (अदा. ३८)+क्त-निष्ठा (३.२.१०२)

१. नगो महीरुहे शैले भास्करे पवनाशने (हैमः)।

(उप+इ+ त), आद् गुणः (६.१.८४)। **नरः** नृ नये (क्र्यादि० २६)+ पचाद्यच् (३.१.१३४), सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः। **पठ्यमानम्** पठ व्यक्तायां वाचि (भ्वा० २२२)+लट्-वर्तमाने लट् (३.२.१२३), स च लः कर्मणि च० (३.४.६९) इति कर्मण्यागतः, भावकर्मणोः (१.३.१३) इत्यात्मनेपदम्, लटः शतृशानचावप्रथमा-समानाधिकरणे (३.२.१२४) इति लटः स्थाने शानच्- प्रत्ययः (पठ्+आन), सार्वधातुके यक् (३.१.६७), आने मुक् (७.२.८२) इत्याने परतोऽदन्तस्याङ्गस्य मुगागमः (पठ्यम्+आन), ततो द्वितीयाया एकवचने अमि-अमि पूर्वः (६.१.१०३) इति पूर्वरूपैकादेशः। **श्लोकः** श्लोकृ संघाते (भ्वा. ६३)+घञ्-अकर्तरि च कारके० (३.३.१९), श्लोक्यते संघातीक्रियत इति श्लोकः।

तद्धितान्तः—भागीरथी भगीरथस्येयम्, तस्येदम् (४.३.१२०) इत्यण्, (भगीरथ+अ), यस्येति च (६.४.१४८) इत्यकारस्य लोपः, तद्धितेष्वचामादेः (७.२.११७) इति वृद्धिः (भागीरथ), टिड्ढाणञ्० (४.१.१५) इति ङीप् (भागीरथ+ई), पुनः यस्येति च (६.४.१४८) इत्यकारस्य लोपः (भागीरथी), ततः सुः, तस्य च हल्ङ्याब्भ्यो० (६.१.६६) इति लोपः। **नामधेयम्** नाम+धेय-भागरूपनामभ्यो धेयः प्रत्ययो वक्तव्यः (वा० ५.४.२५) इति स्वार्थे धेयप्रत्ययः। **नगरम्** नगाः वृक्षशैलगृहादयः सन्त्यस्मिन्निति नगरम्, नग+र-नगपांसुपाण्डुभ्यश्चेति वक्तव्यम् (५.२.१०७) इति मत्वर्थे रप्रत्ययः। **तत्र** तद् ङि+त्रल्-सप्तम्यास्त्रल् (५.३.१०), सुपो धातुप्राति० (२.४.७१) इति ङेर्लुक् (तद्+त्र), त्यदादीनामः (७.२.१०२) इत्यकारान्तादेशः (त अ +त्र), अतो गुणे (६.१.९४) इति पररूपैकादेशः (तत्र), तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१.१.३७) इत्यव्ययत्वाद् सुविभक्तेः अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) इति लोपः। **स्वामिन्** स्वम् ऐश्वर्यमस्यास्तीति, स्व+आमिन्-स्वामिन्नैश्वर्ये (५.२.१२६) इति मत्वर्थे आमिन्प्रत्ययो निपात्यते। ऐश्वर्यादन्यत्र तु मतुपि सति स्ववान् एव। स्वशब्द आत्मात्मीयधनज्ञात्यर्थेषु प्रयुज्यते। स्वशब्दोऽपि 'स्वन शब्दे' (भ्वा० ५७१) धातोः अन्येभ्योऽपि दृश्यते (वा० ३.१.१०१) इति डप्रत्यये सति सिध्यते। अयञ्च 'स्वः (स्वर्)' अव्ययाद् भिन्नः। **एकदा** एकस्मिन्

काले इति, एक ङि+दा- सर्वैकान्य- किं- यत्- तदः काले दा (५.३.१५) तत्रवद् ङि-सु- प्रत्यययोरभावः। **श्लोकद्वयम्** श्लेकयोर्द्वयम् इति, **द्वयम्** द्वौ अवयवौ अस्येति[1], द्वि+औ+तयप्- संख्याया अवयवे तयप् (५.२.४२), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२.४.७१) इति सुपो लुक् (द्वि+तय), द्वित्रिभ्यां तयस्यायज् वा (५.२.४३) इति तयपः स्थानेऽयजादेशः (द्वि+अय), यस्येति च (६.४.१४८) इतीकारस्य लोपः (द्वय), सुविभक्तेः स्थाने अमादेशे अमि पूर्वः (६.१.१०३) इति पूर्वरूपैकादेशः।

सुबन्तः—नाम नामन्+सुँ (स्)—हल्ङ्याब्भ्यो० इति सोर्लोपः, प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१.१.६१) इति प्रत्ययनिमित्तं मत्त्वा सुप्तिङन्तं पदम् (१.४.१४) इति पदसंज्ञा, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८.२.७) इति नलोपः। **सः**—तद्+सुँ (स्)—त्यदादीनामः (७.२.१०२) इत्यकार अन्तादेशः (त+अ+स्), अतो गुणे (६.१.९४) इति पररूपैकादेशः (त+स्), तदोः सः सावनन्त्यः (७.२.१०६) इति तकारस्य स्थाने सकारादेशः (सस्) विभक्तेः सस्य स्थाने रुत्वविसर्गौ। **केन** किम्-अर्थवदधातुः० (१.२.४५) इति प्रातिपदिकसंज्ञा, ङ्याप्प्राति० (४.१.१) इत्यस्मिन्नधिकारे, स्वाद्युत्पत्तिः, कर्तृकरणयोस्तृतीया (२.३.१८) इति तृतीयाविभक्तिः (किम्+टा), विभक्तौ परतः किमः कः (७.२.१०३) इति किमः सम्पूर्णस्य स्थाने 'क' आदेशः (क+आ), टाङसिङसामिनात्स्याः (७.१.१२) इतीनादेशः (क+इन), आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः।

तिङन्तः—आसीत् अस भुवि (अदादि० ५८)+लङ्-अनद्यतने लङ् (३.२.१११), तस्य च स्थाने तिप् (अस्+ति), कर्त्तरि शप् (३.१.६८) इति शप्, अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२.४.७२) इति शपो लुक्, इतश्च (३.४.१००) इति तिप इकारस्य लोपः (अस्+त्), अस्ति-सिचोऽपृक्ते (७.३.९६) इति तिप ईडागमः (अस्+ईत्), आडजादीनम् (६.४.७२) इत्यङस्य आडागमः (आ अस्+ईत्), आटश्च (६.१.८७) इति वृद्धिरेकादेशः। **शुश्राव** श्रु श्रवणे (भ्वा० ६७५) धातोः परोक्षे लिट्

१. अर्थात् दो अवयवों वाला अवयवी, दो श्लोकों का समुदाय 'श्लोकद्वयम्' कहलाता है, ऐसा ही आगे सर्वत्र त्रयम्, चतुष्टयम्, षट्तयम् आदि शब्दों के प्रयोगस्थलों में समझ लेना चाहिए।

(३.२.११५) इति लिट्, तस्य स्थाने तिप्, तिपश्च स्थाने परस्मैपदानां णलतुस्० (३.४.८२) इति णलादेशः (श्रु+अ), लिटि धातोरनभ्यासस्य (६.१.८) इति द्वित्वम् (श्रु श्रु+अ), हलादिः शेषः (७.४.६०) इत्यभ्यासस्य रेफस्य लोपः (शुश्रु+अ), अचो ञ्णिति (७.२.११५) इति वृद्धिः (शुश्रौ+अ), एचोऽयवायावः (६.१.७५) इत्यवादेशः।

अव्ययादिः—**अस्ति** स्वरादिगणे पठितत्वात् 'स्वरादिनिपातमव्यम्' (१.१.३६) इत्यव्ययसंज्ञा। तिङन्तप्रतिरूपकोऽयम्। अयञ्च कालसामान्ये विद्यमाने अस्तित्वे सत्तायाञ्चार्थे प्रयुज्यते। अस्मिन्नेवार्थे कथा- प्रकरण-प्रसंगानामादौ प्रयुक्तो भवति।

अन्वयार्थः—भागीरथीतीरे[१]=भगीरथप्रयत्नेन समानीताया गङ्गाया तटे पाटलिपुत्रनामधेयं=तन्नामकं, नगरम्=पत्तनम्, अस्ति=वर्त्तते, आसीद् वा, तत्र=तस्मिन् नगरे, सर्वस्वामिगुणो[२]पेतः=राज्ञां प्रजापालन-शौर्य-न्याय-दया-दाक्षिण्यादिभिः सर्वैः गुणैर्युक्तः सुदर्शननाम[३]=तन्नामधेयः, नरपतिः=प्रजापालको राजा, आसीत्=बभूव। सः=असौ, भूपतिः=पाटलिपुत्राधिपतिः, एकदा=एकस्मिन्नहनि, केनापि=केनचिदज्ञातेन, पठ्यमानम्=आम्नायमानम्, अभ्यस्यमानम् (अग्रे वक्ष्यमाणं) श्लोक[४]द्वयम्=द्वयोः पद्ययोः समुच्चयं, शुश्राव= आकर्णयितवान्-

भाषार्थः—गङ्गा के तट पर पाटलिपुत्र (पटना) नामक नगर है (था), वहाँ पर प्रजापालन, शौर्य, न्याय, दया, दाक्षिण्य आदि राजाओं के सर्वगुण सम्पन्न सुदर्शन नाम का राजा हुआ। उस राजा ने एक बार, एक दिन किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा पढ़े जाते हुए (आगे वर्णित) दो श्लोक सुने—



---

१. तीरो वङ्गे, तीरं पुनस्तटे (हैमः २.४३२)।

२. गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूद इन्द्रिये। त्यागशौर्यादिसत्त्वादिसन्ध्याद्यावृत्तिरज्जषु॥ शुक्लादावपि वट्यां च (मे० १४.१०,११)

३. नाम कोपऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च। सम्भाव्यकुत्सा प्राकाश्यविकल्पेऽपि च दृश्यते (मे. अव्यय. ५३-५४) (प्राकाश्य=प्रकट, नाम, संज्ञा)।

४. पद्ये यशसि च श्लोकः (अ. ३.३.२)।

९. अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥

अन्वयः—शास्त्रम् अनेकसंशयोच्छेदि, परोक्षार्थस्य दर्शकम्, सर्वस्य (च जनस्य) लोचनं (भवति)। (तादृशं) शास्त्रं यस्य न अस्ति, स अन्धः एव भवति।

कोषः

संशय ४- **विचिकित्सा तु संशयः। सन्देहद्वापरौ च** (अ० १.५.३)।

सर्व १४- द्र० श्लोक ३, पृ० ३१।

लोचनम् ८- **लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी। दृग्दृष्टी च।** (अ० २.६.९३)।

अन्धः २- **अन्धोऽदृक्** (अ० २.६.६१)।

व्याकरणम्

सन्धिः—संशय+उच्छेदि=संशयोच्छेदि-आद् गुणः (६.१.८४)। परोक्ष+अर्थस्य=परोक्षार्थस्य-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७)। न+अस्ति=नास्ति-पूर्ववत् सवर्णदीर्घैकादेशः। नास्ति+अन्धः-नास्त्यन्धः-इको यणचि (६.१.७४)। अन्धः+एव=अन्ध एव-भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि (८.३.१७) इति यकारादेशः (अन्धय्+एव), लोपः शाकल्यस्य (८.३.१९) इति यकारस्य लोपः।

समासः—न एक **इत्यनेके,** (नञ्+एक जस्) इति नञ्तत्पुरुषः, नलोपो नञः (६.३.७२) इति नञो नस्य लोपः[१] (अ+एके), तस्मान्नुडचि

---

१. चादिषु ''नञ्, न'' इत्युभावपि समानार्थकौ निपातौ पठितौ विद्येते। तयोः नञ एव समासो भवति, नञ एव नकारस्य लोपो भवति न तु 'न' इत्येतस्यापि, 'नञः' इत्युक्तत्वात्। अतः न+एक='नैकः' इत्येव भवति, न तु अनेकः। 'नैकः' इत्यत्र 'सह सुपा' (२.१.४) इति सुप्सुपासमासः (केवलसमासः)। नञः षडर्थाः प्रसिद्धाः ते च- तत्सादृश्यम् अभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥ क. तत्सादृश्यम् (=तद्भिन्नं तत्सदृशम्)-अब्राह्मणमानय=ब्राह्मणभिन्नं ब्राह्मणसदृशं मनुष्यमानय। ख. अभावः-अविघ्नमस्तु=विघ्नानामभावोऽस्तु। ग. तदन्यत्वम्- अनश्वं पशुं पश्य=अश्वादन्यं पशुं पश्य। घ. तदल्पता-अनुदरा कन्या=कृशोदरी कन्या। ङ. अप्राशस्त्यम्-अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति। च. विरोधः-असुरः= सुरविरोधो राक्षसः।

(६.३.७३) इति नुडागमः (अ+न्+एके=अनेके)। अनेके चामी संशया **इत्यनेकसंशयाः** कर्मधारयतत्पुरुषः- विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (२.१.५६) इति तत्पुरुषः, स च 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः (१.२.४२) इति कर्मधारयसंज्ञको भवति। अनेकसंशयानाम् उच्छेदि **इत्यनेकसंशयोच्छेदि**, षष्ठी (२.२.८) इति षष्ठीतत्पुरुषः। अक्षाणाम् इन्द्रियाणां परं पश्चाद् इति **परोक्षः** अव्ययं विभक्तिसमीप० (२.१.६) इति पश्चादर्थेऽव्ययीभावः, प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१.२.४३) इति परशब्दस्योपसर्जनसंज्ञात्वात् उपसर्जनं पूर्वम् (२.२.३०) इति पूर्वं प्रयुज्यते (पर+अक्षन्), अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः (५.४.१०७) इति शरदादिषु परोक्षस्य पाठात् समासान्तः समासावयवभूतः टच् प्रत्ययो भवति (पर+अक्षन् अ), भत्वात् नस्तद्धिते (६.४.१४४) इति टेर्लोपः (पर+अक्ष् अ), 'परोक्षे लिट्' इत्याचार्यनिर्देशसामर्थ्यात् अक्ष्णोऽकारस्य ओकारादेशो निपात्यते (पर+ओक्ष), अतो गुणे (६.१.९४) इति पररूपैकादेशः (परोक्ष), ततस्सोर्विसर्गः। परोक्षश्चासौ अर्थः परोक्षार्थः पूर्ववत्कर्मधारयतत्पुरुषः, तस्य परोक्षार्थस्य।

कृदन्तः—संशयः सम्+शीङ् स्वप्ने (अदादि० २५)+अच्-एरच् (३.३.५६), सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः (सम्+शे+अ), एचोऽयवायावः (६.१.७५) इत्ययादेशः, मोऽनुस्वारः (८.३.२३)। **उच्छेदि** उत्+छिदिर् द्वैधीरणे (रुधादि० ३)+णिनिः, सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (३.२.७८),[१] स्वमोर्नपुंसकात् (७.१.२३) इति सोर्लोपः, नलोपः प्राति० (८.२.७) इति नलोपः। उच्छेत्तुं निरासयितुं शीलमस्येत्युच्छेदि। **दर्शकम्** दर्शयतीति, दृशिर् प्रेक्षणे (भ्वा० ७१४)+णिच्+ण्वुल्-ण्वुल्तृचौ (३.१.१३३) (दृश्+इ+वु), पुगन्तलघूपधस्य च (७.३.८६) इति णिचि परतः गुणः, णेरनिटि (६.४.५१) इति णिचो लोपः (दर्श्+वु), युवोरनाकौ (७.१.१) वोः स्थानेऽकादेशः, ततः स्वमौ। **लोचनम्** लोच्यते आलोक्यतेऽनेनेति, लोचृ दर्शने, (भ्वा० ९८)+ल्युट्

१. भाष्ये सुपीति वर्तमाने पुनः सुब्ग्रहणस्यप्रयोजनमुक्तं यत् ''सुब्मात्र यथा स्यात्-उदासारिण्यः, प्रत्यासारिण्यः इति''। एतेन ज्ञायते यत् सुबन्त उपसर्ग उपपदेऽप्यनेन णिनिप्रत्ययो भवतीति।

करणाधिकरणयोश्च (३.३.११७), युवोरनाकौ (७.१.१) इति योः स्थानेऽनादेशः।

अन्वयार्थः—शास्त्रम्=लौकिकालौकिकानां प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां वा सत्यविषयाणां प्रबोधकम्, अनेकसंशयोच्छेदि=नानावितर्कनिवारकम्, यथार्थज्ञानजनकम् भवति, परोक्षार्थस्य=प्रत्यक्षातिरिक्तविषयस्य इन्द्रियातिरेकज्ञानस्य दर्शकम्[१]=प्रत्यक्षीभूतविषयस्येव दर्शयितृ भवति, सर्वस्य= ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादीनां सर्वेषां जनानाम् (च), लोचनम्= नयनं, चर्मचक्षुर्युगलातिरिक्तं तृतीयं नेत्रम्, विवेकचक्षुर्भवति। तादृशं शास्त्रं (विवेकचक्षुः) यस्य नरस्य समीपे, न=नहि, अस्ति=विद्यते, स नरः अन्धः[२] एव=चर्मचक्षुषी विद्यमाने अपि चक्षुर्विहीन एव मन्यते लोके विद्वत्सु वा।

भाषार्थः—यथार्थ ज्ञान कराने वाला वेदादि शास्त्र प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विषयक सर्वविध संशयों को दूर करने वाला होता है, निर्भ्रान्तज्ञानबोधक होता है, अलौकिक दैवी विषयों का भी द्योतक होता है, और मनुष्यमात्र का तृतीय नेत्र होता है, पथदर्शक होता है। अतः यह पथदर्शक नेत्र जिसके पास नहीं रहता, वह अन्धा ही होता है।

नीतिः

विद्याविहीनः पशुभिः समान इति भावः। उक्तञ्च—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥ ३३॥

—भर्तृ.नीति.२०॥

येषां न विद्या न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।

१. दर्शकशब्दः द्रष्टरि दर्शयितरि प्रधाने निपुणे द्वारपाले चार्थे प्रयुज्यते।
२. अन्धं स्यात्तिमिरे क्लीबं चक्षुर्हीनेऽभिधेयवत् (मे० १९.३)।

ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता,

मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥ ३४॥

साहित्यसंगीतकलाविहीनः, साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

तृणन्न खादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम्॥ ३५॥

अपि च—

शुनः पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्यया विना।

न गुह्यगोपने शक्तं न च दंशनिवारणे॥ ३६॥

—वृद्ध० चा० ७.१९॥

विद्याविहीनः अन्धः, पशुः, शुनःपुच्छसदृश इत्येवमादीनां शब्दानामभिप्रायो न निन्दायामपितु विद्याप्रवृत्तावर्थवाद इत्यवगन्तव्यम्। निगदितञ्च—

विद्या नाम नरस्य कीर्त्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो,

धेनुः कामदुघा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयं च सा।

सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं,

तस्मादन्यमुपेक्ष्य सर्वविषयं विद्याधिकारं कुरु॥ ३७॥

—भर्तृ० सु० ७०॥



१०. यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।

एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम्?॥

अन्वयः—यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्त्वम् अविवेकता (इत्येतेषु) एकैकम् अपि अनर्थाय (अलं भवति चेत्) यत्र चतुष्टयम् (अस्ति, तत्र) किमु (वक्तव्यम्)?

कोषः

यौवनम् २- **तारुण्यं यौवनं समे** (अ० २.६.४०)।

धनम् १३- द्र. **अर्थः** (श्लोकः २, पृ० २७)।

सम्पत्तिः ४- **अथ सम्पदि, सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च** (अ० २.८.८१)।

प्रभुः १०- द्र. **स्वामी** (कथामुखम्, पृ० ५०)।

विवेकः २- **विवेकः पृथगात्मता** (अ० २.७.३८)।

एकः ३- **एकाकी त्वेक एककः** (अ० ३.१.८१)।

किमु ६- **आहो उताहो किमुत विकल्पे[१] किं किमूत च** (अ० ३.४.५)।

व्याकरणम्

सन्धिः—अपि+अनर्थाय=अप्यनर्थाय-इको यणचि (६.१.७४)।

समासः—धनस्य सम्पत्तिरिति **धनसम्पत्तिः**-षष्ठीतत्पुरुषः। न अर्थ इत्यनर्थः, तस्मै **अनर्थाय**-नञ्तत्पुरुषः।

कृदन्तः—सम्पत्तिः सम्+पद गतौ (दिवादि० ५८)+क्तिन्-क्तिन्नपीष्यते[२] (वा० ३.३.९४), खरि च (८.४.५४) इति चर्त्वे (सम्+पत्+ति), मोऽनुस्वारः (८.३.२३) इति मस्यानुस्वारः, वा पदान्तस्य (८.४.५८) इति वा परसवर्णः। **प्रभुः** प्र+भू सत्तायाम् (भ्वा० १)+डु-विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम् (३.२.१८०) [प्र+भू+उ], डित्यभस्यापि टेर्लोपोऽनुबन्धकरणसामर्थ्यात् (वा० ६.४.१४३) इति टेर्लोपः [प्रभ्+उ]। **विवेकः** वि+विचिर् पृथग्भावे (रुधादि० ५)+घञ्-भावे (३.३.१८), पुगन्तलघूपधस्य च (७.३.८६) इति गुणः (वि+वेच्+अ), चजोः कु घिण्ण्यतोः (७.३.५२) इति चस्य कुत्वम्।

तद्धितान्तः—यौवनम् यूनो भावः यौवनम्, युवन्+अण्-हायनान्त-युवादिभ्योऽण् (५.१.१२९), नस्तद्धिते (६.४.१४४) इति टेर्लोपः प्राप्यते, परं अन् (६.४.१६७) इति प्रकृतिभावः, तद्धितेष्वचामादेः (७.२.११७) इति वृद्धिः। **प्रभुत्वम्** प्रभोर्भावः प्रभुत्वम्, तस्य भावस्त्वतलौ (५.१.११८)। **अविवेकता[३]** अविवेकस्य भावोऽविवेकता-तस्य भावस्त्वतलौ (५.१.११८), टापि अविवेकता। **यत्र**—यद्+ङि+त्रल्-

१. वितर्के इत्यर्थः।

२. इह 'स्त्रियां क्तिन्' (३.३.९४) इति नाशङ्कनीयः। यतोऽहि सम्पदादिभ्यः क्विप् (वा. ३.३.९४) इत्यपवादभूतः क्विप्प्रत्ययः 'स्त्रियां क्तिन्' (३.३.९४) इति क्तिनो नित्यबाधकः, अस्त्रियाम् (३.३.९४) इति प्रतिषेधात् स्त्र्यधिकारे वासरूपविधेरभावात्। अत एवोक्तम् 'क्तिन्नपीष्यते' इति। अथवा '०सम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु' (२.१.६) इत्याचार्यनिर्देशात् स्त्र्यधिकारेऽपि क्वचिद् वासरूपविधिर्भवति।

३. 'अविवेकिता' इति पाठे अत इनिठनौ (५.२.११५) इतीन्नन्तात् बोध्यम्।

सप्तम्यास्त्रल् (५.३.१०), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२.४.७१) इति ङेर्लुक्, त्रलि विभक्तौ त्यदादीनामः (७.२.१०२) [य+अ+त्र], अतो गुणे (६.१.९४), ततः तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१.१.३७) इत्यव्ययसंज्ञात्वात् अव्ययादाप्सुपः (२.४.८४) इति सोर्लुक्। **चतुष्टयम्** चतुर्+तयप्- संख्याया अवयवे तयप् (५.२.४२), खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८.३.१५) [चतुस्तय], विसर्जनीयस्य सः (७.३.३४) [चतुस्तय], ह्रस्वात् तादौ तद्धिते (८.३.१०१) इति सस्य षत्वम् [चतुष्तय], ष्टुना ष्टुः (८.४.४०) इति तस्य ष्टुत्वम् [चतुष्टय], ततः अतोऽम् (७.१.२४), अमि पूर्वः (६.१.१०३)।

अव्ययादयः—एकैकम् एकम् एकम्- नित्यवीप्सयोः (८.१.४) इति वीप्सार्थे[१] एकशब्दस्य द्वित्वम्, [एक सु एक सु], एकं बहुव्रीहिवत् (८.१.९) इति द्वित्वभूतस्यैकशब्दस्य बहुव्रीहित्वं जातम्, तेन 'कृत्तद्धित०' (१.२.४६) इति सम्पूर्णस्य प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्राति० (२.४.७१) इति सुपोर्लुक् [एक एक], वृद्धिरेचि (६.१.८५) इति वृद्धिरेकादेशः, ततस्सुः, तस्य च स्थाने अम्यादेशे, तस्मिन् परतः पूर्वरूपैकादेशः।

अन्वयार्थः—यौवनम्=तारुण्यम्, धन सम्पत्तिः=वित्तवैपुल्यम्, अर्थाधिक्यम्, प्रभुत्वम्=आधिपत्यम्, नियामकत्वम्, अविवेकता[२]=मौढ्यम्, विचारशून्यता, एषु एकैकम् अपि=प्रत्येकमपि, अन्यतमोऽपि, अनर्थाय उपद्रवाय, विपत्तये भवति, तेषु प्रत्येकमप्युपद्रवं जनयितुं समर्थ इत्यर्थः। यत्र=यस्य व्यक्तेः सविधे, चतुष्टयम्=चत्वारो यौवनादय एकत्रिताः सन्ति, तत्र=तद्व्यक्तेर्विषये किमु=किं वक्तव्यम् भवति, स तु सर्वविनाशकारणखनिर्भवतीति यावत्।

भाषार्थः—जवानी, अगाध धनसम्पत्ति, स्वामित्व और मूढता इन चारों में प्रत्येक गुण व्यक्ति व समाज को आतंक करने में पूर्ण समर्थ

१. गुणो वा क्रिया वा प्रत्येकद्रव्येण सह सम्बध्यते चेत् स एव सम्बन्धः 'वीप्सा' इत्युच्यते। इह एकशब्दस्य यौवनादिना प्रत्येकेन सह सम्बन्धो वर्तते, अतः वीप्सार्थे द्वित्वम् जातम्।

२. विवेकः स्याज्जलद्रोण्यां पृथग्भावविचारयोः (मे. १.१५९) [पृथग्भावः=एकान्तः]।

होता है, पुनः जिस व्यक्ति में ये सभी गुण सम्मिलित हों, वह तो सर्वविध अनर्थों का मूलकारक बनने में कोई सन्देह नहीं रहता।

नीतिः

वयोरूपविभूतीनामेकमैकं मदकारणम्[१] ॥ ३८ ॥

—रघु० १७.४३ ॥

गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वञ्चेति सहतीयं खल्वनर्थपरम्परा। सर्वाविनयानामेकैकमप्येषामायतनम्। किमुत समवायः ॥ ३९ ॥ —कादम्बरी ॥

विद्यातपोवित्तवपुर्वयः कुलैः सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः। स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम्॥ ४० ॥ (भा.पु. ४.३.१७)

यौवनादिभिर्जायमाना अनर्थाः—

यौवनम्—

युवैव धर्मशीलः स्यादनिमित्तं हि जीवितम्।
फलानामिव पक्वानां सदा हि पतनाद् भयं॥ ४१ ॥

—म०भा०अनु० १४५ ॥

समुद्धूतरजोभ्रान्तिरतिदूरमात्मेच्छया यौवनसमये पुरुषं प्रकृतिः ॥ ४२ ॥ —शुकनासोपदेश॥

धनसम्पत्तिः—

बधिरयति कर्णविवरं वाचं मूकयति नयनमन्धयति,
विकृतयति गात्रयष्टिं सम्पद्रोगोऽयमद्भुतो राजन्।
वरमसिधारा तरुतलवासो वरमिह भिक्षा वरमुपवासः,
वरमपि घोरे नरके पतनं न च धनगर्वितबान्धवशरणम्॥ ४३ ॥

१. नवयौवन, सौन्दर्य और ऐश्वर्य इन तीनों में से एक भी वस्तु मनुष्य को विवेकहीन बना देती है।

प्रभुत्वम्—

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च,
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्याव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च,
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा॥ ४४॥ —भर्तृ० नी० ४३॥

राजपुत्रा मदोन्मत्ता गजा इव निरङ्कुशाः।
भ्रातरं वापि निघ्नन्ति पितरं वाभिमानिनः॥
अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते॥ ४५॥
—कामन्दकीय नीतिसारः ४.१०.२, ५॥

अविवेकता—

कश्चिदाम्रवणं छित्वा पलाशांश्च निषिञ्चति।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृघ्नुः स शोचति फलागमे॥ ४६॥
अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति।
स शोचेत् फलवेलायां यथा किंशुकसेवकः॥ ४७॥
यस्य नास्ति विवेकस्तु केवलं यो बहुश्रुतः।
न स जानाति शास्त्रार्थान् दर्वी पाकरसनिव॥ ४८॥
—रा० २.६३.९, ८॥

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते ही विमृश्यकारिणं गुणलब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥ ४९॥
—कि० २.३०॥

उचितमनुचितं वा कुर्वता कार्यजातं,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवतिहृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥ ५०॥ —भोज० २५॥
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।[१] ५१॥
—भर्तृ० १.१०॥

१. विवेक रहित लोगों का सैकडों दिशाओं में पतन होता है।

इत्याकर्ण्यात्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास—

कोषः

आत्मा ३- **क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः** (अ० १.४.२९)
पुत्र ५- **आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः** (अ० २.६.२७)
नित्य ९- **सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम्॥**
नित्यानवरताजस्रमपि (अ० १.१.६५, ६६)।
मार्ग १२- **अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः।**
सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च॥ (अ० २.१.१५)
मनस् ७- **चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः॥** (अ० १.४.३१)
राजन् ७- द्र० **नृपः** (श्लोक ४, पृ० ३४)
आकर्णयति (आकर्ण्य) ४- द्र० **श्रृणोति** (कथामुखम्, पृ० ५१)
चिन्तयति (चिन्तयामास) ३- (द्र० श्लोक २, पृ० २७)

व्याकरणम्

सन्धिः—इति+आकर्ण्य=इत्याकर्ण्य-इको यणचि (६.१.७४), आकर्ण्य+आत्मनः=आकर्ण्यात्मनः-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७), शास्त्र+अननुष्ठानेन=शास्त्राननुष्ठानेन-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७), अननुष्ठानेन+उद्विग्न०=अननुष्ठानेनोद्विग्न०- आद्गुणः (६.१.८४), सः+राजा स राजा- एतत्तदोः सुलोपो० (६.१.१२८)।

समासः—न अधिगतम् अवबुद्धम् इति **अनधिगतम्**—नञ् (२.२.६) इति नञ्तत्पुरुषः। अनधिगतानि शास्त्राणि यैस्त अनधिगत-शास्त्राः-अनेकमन्यपदार्थे (२.२.२४) इति बहुव्रीहिः, **तेषानधिगत-शास्त्राणाम्,** आहत्य नञ्तत्पुरुषगर्भबहुव्रीहिः।[१] उत्क्रान्तो मार्गात्[२] इति उन्मार्गः कुमार्गः, सुमार्गात् विचलनम्- निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः

१. अधिगतानि शास्त्राणि यैस्त अधिगतशास्त्राः, न अधिगतशास्त्राः अनधिगतशास्त्राः इति समासे कृते अन्यपदार्थस्य निषेधो भवति, न तु अधिगतक्रियायाः, अन्यपदार्थ-प्रधानभूतशब्देन सह नञःसमासत्वात्, अतो बहुव्रीहिगर्भ नञ्तत्पुरुषापेक्षया नञ्तत्पुरुष-गर्भबहुव्रीहिरेव साधीयान्। २. मार्गः पन्था रीतिश्च।

(वा. २.२.१८) इति तत्पुरुषः, उतः तकारस्य 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (८.४.४४) इति नत्वम्। उन्मार्गेण गन्तुं शीलाः गच्छन्तीति वा उन्मार्गगामिनः-सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (३.२.७८) इति णिनिः, अत उपधायाः (७.२.११६) इति वृद्धिः, तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३.१.९२) इत्युपपदसंज्ञा, उपपदमतिङ् (२.२.१९) इति उपपदतत्पुरुषः, तेषाम् **उन्मार्गगामिनाम्।** न अनुष्ठानम् अननुष्ठानम् अनभ्यासः-नञ्तत्पुरुषः। शास्त्रस्य अननुष्ठानम् शास्त्राननुष्ठानम्, शास्त्रविरुद्धाचरणम्- षष्ठी (२.२.८) इति षष्ठीतत्पुरुषः, तेन **शास्त्राननुष्ठानेन** हेतौ (२.३.२३) इति तृतीया। उद्विग्नं व्याकुलितं मनो यस्य स **उद्विग्नमनाः**-अनेकमन्यपदार्थे (२.३.२४) इति बहुव्रीहिः (उद्विग्नमनस्+सु), हल्ङ्याब्भ्यो० (६.१.६६) इति सोर्लोपः, प्रत्ययलक्षणं मत्वा सौ परतः अत्वसन्तस्य चाधातोः (६.४.१४) इति दीर्घः (उद्विग्नमनास्), ततः रुत्वविसर्गौ।

कृदन्तः—अधिगतम् अधि+गम्+क्त-गत्यर्थाकर्मकश्लिष० (३.४.७२) इति कर्मणि क्तः (अधि+गम्+त), अनुदात्तोपदेशवनति० (६.४.३७), इति मस्य लोपः, ततस्सुः, तस्य च स्थाने अतोऽम् (७.१.२४) इत्यमादेशः, अमि पूर्वः (६.१.१०३) इति पूर्वरूपम्। **मार्गः**—मृज्यते वितृणीक्रियते पादैः मार्ग्यत इति वा मार्गः, मृजूष् शुद्धौ (अदादि० ५९), मृग अन्वेषणे (चुरादि० ३२२) इत्येतस्माद्वा धातोः घञ्-अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (३.३.१९) (मृज्+अ), मृजेर्वृद्धिः (७.२.११४) इति वृद्धिः, चजोः कुः घिण्ण्यतोः (७.३.५२) इति जस्य कुत्वम् (गः)। **अनुष्ठानम्** अनु+ष्ठा गतिनिवृत्तौ (भ्वा० ६६२)+ल्युट्-ल्युट् च (३.३.११५), धात्वादेः षःसः (६.१.६२) इति षस्य सत्वे सति तस्य सत्त्वस्य उपसर्गात् सुनोतिसुवति० (८.३.६५) इति पुनःषत्त्वम्, ततः ष्टुना ष्टुः (८.४.४०) इति थस्य ष्टुत्वम्, युवोरनाकौ (७.१.१) इति योः स्थाने यथासंख्यम् अनादेशः। **उद्विग्नः** उद्+ओविजी भयचलनयोः (तु० ९)+क्त- गत्यर्थाकर्मकश्लिष० (३.४.७२) इति कर्त्तरि क्तः (उद्+विज्+त), श्वीदितो निष्ठायाम् (७.२.१४) इतीण्निषेधः, पुगन्तलघू० (७.३.८६) इति प्राप्तस्य गुणस्य, क्ङिति च (१.१.५) इति निषेधः, चोःकुः (८.२.३०) इति कुत्वम् (उद्+विग्+त), ओदितश्च (८.२.४५)

इति निष्ठायाःनत्वम्।

तद्धितान्तः—नित्यम् नियतं ध्रुवं नियमेन वा भवं नित्यम्, नि+त्यप् त्यब्नेर्ध्रुवे (वा ४.२.१०४)।

तिङ्न्तः—चिन्तयामास चिति स्मृत्याम् (चुरादि० २) अनु-बन्धस्येकारस्य लोपे सति इदितो नुम् धातोः (७.१.५८) इति नुम् [चिन्त्], सत्यापपाश० (३.१.२५) इति णिच् [चिन्ति], सनाद्यन्ता धातवः (३.१.३२), परोक्षे लिट् (३.२.११५), कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (३.१.३५) [चिन्ति आम् ल्], आमः (२.४.८१) इति लिटो लुक् [चिन्ति आम्], कृदतिङ् (३.१.९३) इति लिटः कृत्संज्ञकत्वात् प्रत्यय-लक्षणं मत्वा कृत्तद्धित० (१.२.४६) इति प्रातिपदिकसंज्ञायां सूत्पत्तिः [चिन्ति आम् स्], कृन्मेजन्तः (१.१.३८) इत्यव्ययत्वात् अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) इति सोर्लुक्, अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु (६.४.५५) इति णेरयादेशः [चिन्तय् आम्], कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि (३.१.४०) इति अस भुवि (अदा० ५८) धातोरनुप्रयोगः, ततः परोक्षभूतो लिट् प्रत्ययः [चिन्तयाम् अस् ल्], अत्र लिटो विवक्षायाम् अस्तेर्भूः (२.४.५२) इति भ्वादेशः प्रत्याहारग्रहणेन गृहीतत्वात् अनुप्रयोगो न भवतीति भाष्यवृत्त्यादौ प्रतिपादितम्, अतो न भ्वादेशः। तिबाद्युत्पत्तौ आम्प्रत्ययवत् (१.३.६३) इति परस्मैपदम्, यतो हि णिचश्च (१.३.७४) इति णिजन्तो धातुरुभयपदी आसीत्, परस्मैपदानां णलतुसु० (३.४.८२) इति तिपः स्थाने णलादेशः [चिन्तयाम् अस् अ], लिटि धातोरनभ्यासस्य (६.१.८) इति द्वित्वम् [०अस् अस् अ], हलादिशेषः (७.४.६०), अत आदेः (७.४.७०) इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वम् [०आ अस् अ], अत उपधायाः (७.२.११६) इति वृद्धिः [०आ आस् अ], अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७) इति दीर्घैकादेशे **[चिन्तयामास]**।

अव्ययादिः—आकर्ण्य आङ्+कर्ण भेदने (चुरादि. ३५२)+णिच् चुरादित्वाण्णिच् (३.१.२५), सनाद्यन्ता धातवः (३.१.३२), ततो धातोः समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३.४.२१) इति क्त्वा प्रत्ययः [आ+कर्ण्+इ+त्वा], णेरनिटि (६.४.५१) इति णिचो लोपः [आ+कर्ण्+त्वा], कुगतिप्रादयः (२.२.१८), समासे सति, समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्

(७.१.३७) क्त्वास्थाने ल्यबादेशः [आकर्ण्य], क्त्वातोसुन्कसुनः (१.१.३९) इति क्त्वान्तस्याव्ययसंज्ञा, स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१.१.५५) इति ल्यबन्तोऽपि अव्ययसंज्ञो भवति।

अन्वयार्थः इति[१]=एवं पूर्वोक्तश्लोकद्वयम्, आकर्ण्य-संश्रुत्य, अनधिगतशास्त्राणाम्=शास्त्रीयज्ञानविहीनानाम्, नित्यम्[२]=सततम्, उन्मार्गगामिनाम्=सन्मार्गम् उत्सृज्य (संत्यज्य) उच्छृंखलतया[३] व्यवहरताम् द्यूतक्रीडादिव्यसनभूतनिन्द्यपथपथिकानाम्, आत्मनः[४]=स्वस्य, पुत्राणाम्=सुतानाम्, शास्त्रानुष्ठानेन=शास्त्रविरुद्धाचरणकारणेन, उद्विग्नमनाः[५]=विचलितमनस्कः, दुःखपरिहाराक्षमतया व्याकुलितचित्तः सः=श्रुतश्लोकः, राजा[६]=सुदर्शननामको भूपतिः, चिन्तयामास=विचारयामास, चिन्तितवान्।

भाषार्थः—इन दो श्लोकों को सुनकर शास्त्रीय विधि, निषेध आदि नियमों से अनभिज्ञ और नित्य शास्त्रविरुद्ध अर्थात् द्यूतक्रीडादि निन्द्य कर्मों एवं दुर्व्यसनआदियों से कुमार्ग पर चलने वाले अपने राजकुमारों के वेद तथा नीतिशास्त्र विरुद्ध व्यवहार से व्याकुल होकर वह सुदर्शन नामक राजा विचारने लगा—

नीतिः

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभा मध्ये, हसंमध्ये बको यथा॥ ५२॥



११. 'कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुःपीडैव केवलम्॥

---

१. इतिः स्वरूपे सांनिध्ये विवक्षानियमेऽपि च (हैमः, परिशिष्टकाण्डः २८)।
२. नित्यं ध्रुवं तते (हैमः २.३७३)।
३. उत्क्रान्तः शृंखलया उच्छृंखलः, तस्य भाव उच्छृंखलता।
४. आत्मा चित्तेधृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे।
परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः॥ स्वभावे (हैमः २.२६१)।
५. मनस् चित्ते मनीषायाम् (मे० ३२.३०)।
६. राजा प्रभौ च नृपतौ क्षत्रिये रजनीपतौ। यक्षे शक्रे च पुंसि स्याद् (मे० २०.१५)।

अन्वयः—यः न विद्वान् (अस्ति) न (च) धार्मिकः (तेन) जातेन पुत्रेण क अर्थः? (यथा) काणेन चक्षुषा किं वा (प्रयोजनम् भवति)? केवलम् चक्षुःपीडा एव (खलु भवति)।

कोषः

पुत्र ५- पृ० ६३
विद्वस् २२- द्र० प्राज्ञः, पृ० २७।
चक्षुष् ८- द्र० लोचनम्, पृ० ५५।
पीडा ९- **पीडाबाधाव्यथा दुःखममानस्यं प्रसूतिजम्।**
स्यात् कष्टं कृच्छ्रमाभीलम् (अ० १.९.३,४)

व्याकरणम्

सन्धिः—कः+अर्थः= कोऽर्थः-अतो रोरप्लुतादप्लुते (६.१.१०९) इति उत्त्वम् (क उ+अर्थः), आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणः (कोऽर्थः), एङः पदान्तादति (६.१.१०५) इति पूर्वरूपैकादेशः। यः+न=यो न-हशि च (६.१.११०) इत्युत्त्वम्, ततो आद् गुणः (६.१.८४)। चक्षुःपीडा+एव=चक्षुःपीडैव-वृद्धिरेचि (६.१.८५) इति वृद्ध्यैकादेशः।

कृदन्तः—**जातः** जनी प्रादुर्भावे (दिवादि.४०)+क्त-निष्ठा (३.२.१०२) [जन्+त], जनसनखनां सञ्झलोः (६.४.४२) इति नस्य स्थान आत्वम्। **विद्वान्** विद ज्ञाने (अदा० ५७)+लट्- वर्तमाने लट् (३.२.१२३), लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (३.२.१२४) इति लटः स्थाने शत्रादेशः, (विद्+शतृ=अत्), कर्तरि शप् (३.१.६८) इति शप्, तस्य च अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२.४.७२) इति लुक्, विदेः शतुर्वसुः (७.१.३६) इति शतुः स्थाने वसुरित्यादेशः [विद्+वस्], ततस्सुः, अत्वसन्तस्य चाधातोः (६.४.१४) इति दीर्घः [विद्वास्+स्], उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७.१.७०) इति नुम् [विद्वान्स्+स्], हल्ङ्याब्भ्यो० (६.१.६६) इति सोर्लोपः, संयोगान्तस्य लोपः (८.२.२३) इति अन्त्यस्य सस्य लोपः [विद्वान्]। **पीडा** पीड अवगाहने (चुरादि० १२)+अ-गुरोश्च हलः (३.३.१०३) इत्यः प्रत्ययः, [पीड्+अ], अजाद्यतष्टाप् (४.१.४) इति टाप्, ततस्सुः, तस्य च हल्ङ्याब्भ्यो० (६.१.६६) इति लोपः।

तद्धितान्तः—धार्मिकः=धर्मम् आचरति अनुचरति वेति धार्मिकः, धर्मं चरति (४.४.४१) इति ठक् प्रत्ययः [धर्म अम् ठ], सुपो धातुप्राति० (२.४.७१) इत्यमो लुक्, ठस्येकः (७.३.५०) इति ठस्य स्थान इगादेशः[१] [धर्म+इक], यस्येति च (६.४.१४८) इत्यकारस्य लोपः [धर्म्+इक], स्थानिवदादेश० (१.१.५५) इति तद्धितादेशस्तद्धितवद् भवतीत्युक्तत्वाद् किति च (७.२.११८) इत्यादेरचः स्थाने वृद्धिः [धार्मिक]।

समासः—चक्षुषः पीडा इति चक्षुःपीडा-षष्ठी (२.२.८४) इति षष्ठीतत्पुरुषः।

सुबन्तः—किम्+सु- किमः कः (७.२.१०३), अनेकाल्शित् सर्वस्य (१.१.५४) इति सर्वस्य किमः स्थाने क आदेशः [क+स्=कः]। यद्+सु- त्यदादीनामः (७.२.१०२), अलोऽन्त्यस्य (१.१.५१) इति दकारस्य स्थाने अ-आदेशः [य अ+सु], अतो गुणे (६.१.९४) इति गुणैकादेशः [य+स्=यः]।

अव्ययादिः—किम्वा इति अव्ययद्वयस्य समुदायः प्रश्नार्थकः।

जातेन पुत्रेण, काणेन चक्षुषा इत्यत्र क्रमशः इत्थम्भूतलक्षणे, येनाङ्गविकारः (२.३.२१, २०) इत्येताभ्यां तृतीया विभक्तिः।

अन्वयार्थः—यः न विद्वान्[२]=विज्ञः, पण्डितः अस्ति, न च धार्मिकः=धर्मानुष्ठानशीलः अस्ति, तेन अविज्ञेन अधार्मिकेन जातेन[३]= उत्पन्नेन, पुत्रेण=आत्मजेन कः=को वा, अर्थः=लाभः ? तादृशेन पुत्रेण किमपि प्रयोजनं सिद्धं न भवतीति यावत्। यथा (दृष्टान्तः)-काणेन[४]=दर्शन-सामर्थ्यविहीनेन चक्षुषा=नेत्रगोलकमात्रेण किं वा प्रयोजनं भवति? दर्शनादिकं प्रयोजनं किमपि न भवतीत्यर्थः। तादृशेन चक्षुषा तु केवलं चक्षुःपीडा[५]=नयनव्यथा एव भवति। अविदुषा अधार्मिकेण च पुत्रेण

१. ठस्य स्थाने इगादेशविधानसामर्थ्यादेवात्र 'चुटू' (१.३.७) इति न प्रवर्तते।
२. विद्वान् ज्ञानिनि धीरे न विद्वानध्यात्मकवेदके इति धरणिः।
३. जातं व्यक्तौघजन्मसु (मे० १६.१८)।
४. काणः काकैकचक्षुषोः (मे० १४.५)।
५. पीडार्त्तिमर्दनोत्तंसकृपासु सरलद्रुमे (अनेका० २.१२६, अपि च द्र. मे० १३.२०)।

केवलं[१] पीडा=दुःखमेव भवति नान्यत् किमपि प्रयोजनं निर्वर्तत इति तात्पर्यः।

भाषार्थः—जो (पुत्र) न ही विद्वान् है और न ही धर्मात्मा है, ऐसे विद्यादि विहीन पुत्र के उत्पन्न होने से क्या लाभ है? ऐसे पुत्र का उत्पन्न होना वैसा ही है जैसे दर्शनसामर्थ्यहीन नेत्र। ऐसे नेत्र से तो शारीरिक एवं मानसिक पीडा ही होती है, और कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। ऐसा ही विद्यादि शुभगुणों से रहित पुत्र भी माता-पिता के मानसिक आदि दुःखों का कारण ही बनता है, उससे अन्य कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

नीतिः

गुणहीनः पुत्रो न पुत्रः, अपितु विद्यादिगुणसम्पन्न एव पुत्रः कथ्यते। उक्तं च—

पुन्नामो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा[२] ॥ ५३ ॥

—मनु० ९.१३८॥

पुनाति त्रायते कायं पितरं येन शोकतः।
एतत्पुत्रस्य पुत्रत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ५४॥

—पद्मपु० ३१.१२७॥

पुत्रा हि गदिताः पित्रोः प्ररोहा एव धारकाः॥ ५५ ॥

—पद्मपु० ७.३०६॥

न करोति यतः पातं पित्रोः शोकमहोदधौ।
अपत्यत्वमपत्यस्य तद्वदन्ति सुमेधसः॥ ५६ ॥

—पद्मपु० ३१.१५३॥

किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः॥ ५७॥

—पञ्चतन्त्र १.६॥

१. केवलं कुहने पुमान्। नपुंसकन्तु निर्णीते वाच्यवच्चैककृत्स्नयोः (मे० ८.८३)।
२. तु० रामा० अयो० १०७.१२।

यस्य पुत्रो न वै विद्वान्न शूरो न च धार्मिकः।
अप्रकाशं कुलं तस्य नष्टचन्द्रेव शर्वरी॥ ५८॥

—सु० र० भा० पृ० ६०॥

कुग्रामवासः कुलहीनसेवा कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
मूर्खश्च पुत्रो विधवा च कन्या विनाग्निना संदहते शरीरम्॥ ५९॥

—सं० सु० २०-३१॥



१२. अजात-मृत-मूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे॥

अन्वयः—अजातमृतमूर्खाणां आद्यौ वरं (विद्येते), च=परम् अन्तिमः न वरं (विद्यते)। (यतः) आद्यौ सकृद् दुःखकरौ (भवतः), अन्तिमः तु पदे पदे (दुःखकरः भवति)।

कोषः

मृत ७- **परासुप्राप्तपञ्चत्वपरेतप्रेतसंस्थिताः। मृतप्रमीतौ त्रिष्वेते** (अ० २.८.११७)

मूर्ख ६- **अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशाः** (अ० ३.१.४८)

आद्य ५- द्र० श्लोक ६, पृ० ४०।

सकृद् ३- **सकृदेकवारमेकदा।**

दुःख ६- द्र० **पीडा** (श्लोक ११, पृ० ६७)।

व्याकरणम्

सन्धिः—०मूर्खाणाम्+वरम्=०मूर्खाणां वरम्-मोऽनुस्वारः (८.३.२३)। च+अन्तिमः=चान्तिमः-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७)। सकृत्+दुःख०=सकृद्दुःख०-झलां जशोऽन्ते (८.२.३९)। दुःखकारौ+आद्यौ+अन्तिमः=दुःखकरावाद्यावन्तिमः- एचोऽयवायावः (६.१.७५)। अन्तिमः+तु=अन्तिमस्तु-विसर्जनीयस्य सः (८.३.३४)।

कृदन्तः—**अजातः** द्र. जातः (श्लोक ११, पृ० ६७)। **मृतः** मृङ् प्राणत्यागे (तुदादि० ११३)+क्त-गत्यर्थाकर्मकश्लिष० (३.४.७२) इति कर्त्तरि क्तः, कित्वाद्गुणनिषेधः। **वरम्** वृञ् वरणे (स्वा.८)+ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च (३.३.५८) इत्यप् कर्मणि भावे वा [वृ+अ], सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः, उरण् रपरः (१.१.५०) [वर्+अ], ततस्स्वमौ। **दुःखकरः** दुःखं करोतीति दुःखकरः, दुःखमित्युपपदे कृ धातोष्टप्रत्ययः- कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (३.२.२०) इति हेतौ अर्थे टः [दुःख ङस् कृ अ], अत्र कर्तृकर्मणोः कृति (२.३.६५) इति कर्मणि षष्ठी, सार्वधातु० (७.३.८४) इति गुणः, ततः पूर्ववद् रपरत्वम्, **पदम्** पद गतौ (दिवादि० ५८)+अच्-नन्दिग्रहिपचादिभ्यो० (३.१.१३४), यथासंख्यमनु० (१.३.१०) इति पचादिभ्योऽच्।

तद्धितान्तः—**आद्यौ** आदौ भवौ- आद्यौ, आदि+यत्-दिगादिभ्यो यत् (४.३.५४) इति भवार्थे यत्, यचि भम् (१.४.१८) इति भसंज्ञायां सत्याम् यस्येति च (६.४.१४८) इतीकारस्य लोपः [आद्य],। **अन्तिमः** अन्ते भवः-अन्तिमः, अन्त+डिमच्-अन्ताच्चेति वक्तव्यम् (वा० ४.३.२३) इति भवार्थे डिमच्-प्रत्ययः [अन्त+इम], टेः (६.४.१४३) इति टेर्लोपे 'अन्तिमः'।

समासः—अजातश्च मृतश्च मूर्खश्चेति अजातमृतमूर्खाः, तेषाम् अजातमृतमूर्खाणाम्-चार्थे द्वन्द्वः (२.२.२९) इति इतरेतरद्वन्द्वः।

सुबन्तः—**आद्यौ**=आद्यप्रातिपदिकात् प्रथमाविभक्तेर्द्विवचनम् [आद्य+औ] प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६.१.९८) इति पूर्वसवर्णदीर्घैकादेशे प्राप्ते तस्य नादिचि (६.१.१००) इति निषेधः, निषिद्धे तस्मिन् उत्सर्गविधिः वृद्धिरेचि (६.१.८५) इति पूर्वपरयोर्वृद्धिरेकादेशः। **अजातमृतमूर्खाणाम्** यतश्च निर्धारणम् (२.३.४१) इति षष्ठीविभक्तिः, बहुषु बहुवचनम् (१.४.२१) इति बहुवचनम् [०मूर्ख+आम्], ह्रस्वनद्यापो नुट् (७.१.५४) इति नुट्-आगमः, स च आद्यन्तौ टकितौ (१.१.४५) इति टिदागम आम आद्यावयवो भवति [०मूर्ख+नाम्], नामि (६.४.३) इत्यङ्गस्य दीर्घत्वम् [०मूर्खानाम्], अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८.४.२) इति नस्य णत्वम् [०मूर्खाणाम्]।

अन्वयार्थः—अजातः-अनुत्पन्नः, मृतः[1]-उत्पन्नोऽपि दिवं गतः,

१. मृतं तु याचिते मृत्यौ क्लीबं मृत्युमति त्रिषु (मे० १६.४६)।

मूर्खः-सदसद्विवेकरहितः, तेषां मध्ये, आद्यौ=आदिभूतौ अजातमृतौ वरम्[२] मूर्खापेक्षया ईषत्प्रियौ (विद्येते) (च[३])=परन्तु अन्तिमः=चरमो मूर्खः, न=नहि वरम्=किञ्चिदपि प्रियो न (विद्यते)। (यतोहि) आद्यौ=आदिमौ अजातमृतौ, सकृद्[४]=एकवारम्, दुःखकरौ=दुःखहेतू भवतः, अन्तिमः= अन्त्यः तु मूर्खपुत्रः, पदे पदे[५]=मुहुर्मुहुः, नित्यम्, दुःखकरः- दुःखनिमित्तको भवतीति शेषः।

भाषार्थः—पुत्र का उत्पन्न न होना अथवा उत्पन्न हो भी गया हो, पर वह जीवित न रहे या जीवित हो, पर ज्ञानहीन, मूर्ख बना रहे इन तीनों प्रकार के पुत्रों में से आरम्भिक दो प्रकार के पुत्र अपेक्षा कृत कुछ अच्छे ही हैं, लेकिन अन्तिम प्रकार का पुत्र तो किसी भी प्रकार थोड़ा भी अच्छा नहीं है, क्योंकि आदि के द्विविध पुत्र तो एक ही बार दुःख देते हैं, दुःख के कारण बनते हैं, पर अन्तिम पुत्र तो जीवन भर दुःख का निमित्त बनता है, दुःख देता ही रहता है।

नीतिः

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि॥ ६०॥

—भर्तृ० नीति० ११॥

सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः।
सर्पः एकाकिनं हन्ति खलः सर्वविनाशकः॥ ६१॥

—सं० सु० र० २५॥

---

२. अत्र वरमिति क्रियाविशेषणम् (भावविशेषणम्), अतः तस्य क्लीबत्वम्-क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकलिङ्गता च (परि० १४२) इत्युक्त्वत्वात्, तस्य च भावस्य एकत्वाद् एकवचनम्॥ वरो जामातरि वृतौ देवतादेरभीप्सिते। षिड्गे पुंसि त्रिषु श्रेष्ठे कुङ्कुमे तु नपुंसकम्॥ वरी प्रोक्ता शतावर्य्यां वरा च स्यात् फलत्रिके। मनागिष्टे वरं क्लीबे केचिदाहुस्तदव्ययम्॥ (मे० २७.६२-६३)

३. चशब्दोऽत्र परन्तु (=लेकिन) इत्यस्मिन्नर्थे प्रयुक्तः (अपि च द्र० शाकुन्तल १.१५)।

४. सकृत् सहैकवारे स्यात् (मे० अव्ययवर्गः २.३३)।

५. पदं स्थाने विभक्त्यन्ते शब्दे वाक्येऽङ्कवस्तुनोः (=एकवस्तुनोः) त्राणे पादे पादचिह्ने व्यवसायापदेशयोः॥ (हैमः०२.२३२) 'पदं पदं' इत्यत्र नित्यवीप्सयोः (८.१.४) इति नित्यार्थे द्वित्वम्। वीप्सा च क्रियागुणयोः प्रत्येकेन द्रव्येण सह सम्बन्धः।

यस्मिन् वंशे समुत्पन्नस्तमेव निजचेष्टितैः।
दूषयत्यचिरेणैव घुणकीट इवाधमः॥ ६२॥

—सं० सु० र०, पृ० २॥

◈ ◈ ◈

किञ्च—

१३. स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायत?॥

अन्वयः—येन जातेन वंशः समुन्नतिं याति, स (एव) जातः (भवति)। परिवर्तिनि संसारे कः वा न मृतः (भवति)?, कः वा न जायते?

कोषः

वंश ९- **संततिगोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ।**
वंशोऽन्ववायः सन्तानः (अ० २.७.१)

याति १३- द्र० श्लोक ५, पृ० ३७।

जन् ४- **(प्रभवति) उत्पद्यते जायते च प्ररोहत्युद्भवत्यपि॥**
(आ०च० १.१.२)

व्याकरणम्

सन्धिः—सः+जातः=स जातः-एतत्तदोः सुलोपो० (६.१.१२८), जातः+येन=जातो येन, कः+वा=को वा- उभयत्रापि हशि च (६.१.११०) इति उत्वम्, आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशश्च।

कृदन्तः—समुन्नतिम् सम्+उत्+नम प्रहत्वे शब्दे च+क्तिन्- अनुदात्तोपदेश० (६.४.३७), इति नमो मकारस्य लोपः, यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८.४.४४) इति उतः तकारस्य स्थाने नकारादेशः [समुन्नति], ततः अम्, अमि पूर्वः (६.१.१०३) इति पूर्वरूपैकादेशः। **परिवर्तिनि** परि+वृतु वर्तने (भ्वा० ५०८)+णिनि-सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (३.२.७८), सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणे, उरण् रपरः (१.१.५०) इति रपरः [परिवर्त्+इन्], तत सप्तम्या एकवचनं

ङिः [परिवर्तिन्+इ]। **संसारे** सम्+सृ गतौ+घञ्- अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (३.२.१९) [सम्+सृ+अ], अचो ञ्णिति (७.२.११५) इति वृद्धौ रपरत्वम् [सम् सार], मोऽनुस्वारः (८.३.२३) इति समो मस्यानुस्वारादेशः [संसार], ततः सप्तम्या एकवचनम् ङिः [संसार+इ], आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः।

समासः—सम्यगुन्नतिः समुन्नतिः, सम्+उन्नतिः-कुगतिप्रादयः (२.२.१८) इति प्रादितत्पुरुषः।

सुबन्तः—सः तत्+सु त्यदादीनामः (७.२.१०२) [त अ + स्], अतो गुणे (६.१.९४) इति पररूपैकादेशः [त+स्], तदोः सः सावनन्त्ययोः (७.२.१०६) इति तकारस्य स्थाने सकारादेशः [स+स्=सः]।

तिङन्तः—याति या प्रापणे (अदा० ४२) धातोः लटः स्थाने तिप्, कर्तरि शप् (३.१.६८), तस्य च शपः अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२.४.७२) इति लुक्। **जायते**-जनी प्रादुर्भावे (दिवादि० ४०) धातोर्लट्, अनुदात्तङित्० (१.३.१२) इत्यात्मनेपदम् [जन्+त], दिवादिभ्यः श्यन् (३.१.६९) इति श्यन् प्रत्ययः [जन्+य+त], ज्ञाजनोर्जा (७.३.७९) इति जनः स्थाने 'जा' इत्ययमादेशः [जायत], टित आत्मनेपदानां टेरे (३.४.७९)।

अन्वयार्थः- येन (पुत्रेण) जातेन[1]=उत्पन्नेन सता वंशः[2]=कुलम्, समुन्नतिम्=सम्यग् उन्नतिम्, ख्यातिम् उत्कर्षं वा याति=आप्नोति, स एव जातः=उत्पन्नः, सफलजन्मा भवति। परिवर्तिनि=परिणामशीले, संसारे= भवे, जगति, कः वा न मृतः[3]=मृत्युमुखप्रविष्टः भवति? कः वा न जायते= स्वकृतशुभाशुभम् अनुभोक्तुं पुनर्जन्म धरते? अस्मिञ्जगति अहर्निशं बहवः प्राणिनः उत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, परं तस्यैव जन्म सार्थकं भवति, येन जातेन पितृकुलं महीयत इत्यर्थः।

भाषार्थः—जिस पुत्र के जन्म से सम्पूर्ण वंश ही प्रसिद्धि को प्राप्त करता है, यथार्थ में उसका जन्म ही जन्म माना जा सकता है, अर्थात् वह ही सफल जन्मवाला है। अन्यथा इस परिवर्तनशील संसार में कौन

१. जातं व्यक्तौघजन्मसु॥ क्लीबं त्रिलिङ्गमुत्पन्ने (मे० १६.१८)।

२. वंशः सङ्घेऽन्वये वेणौ पृष्ठाद्यवयवेऽपि च (हैमः २.५५८)।

३. मृतं तु याचिते मृत्यौ क्लीबं मृत्युमति त्रिषु (मे० १६.४६)।

नहीं मरता है? और कौन पुनः जन्म नहीं लेता? अर्थात् सभी मरते और जन्मते ही हैं।

नीतिः

एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा॥ ६३॥

◈ ◈ ◈

१४. गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससम्भ्रमा यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति॥

अन्वयः—गुणिगणगणनारम्भे यस्य (नामाङ्कने) ससम्भ्रमा कठनी न पतति, तेन अम्बा यदि सुतिनी (तर्हि) वन्ध्या कीदृशी भवति? (इति) वद।

कोषः

गण २२- **समूहनिवहव्यूहसंदोहविसरव्रजाः।**
स्तोमौघनिकरव्रातवारसंघातसंचयाः॥
समुदायः समुदयः समवायश्चयो गणः।
स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम्॥
(अ० २.५.३९-४०)

गणना ३- **संख्यागणनाकमालाः।**

आरम्भ ५- **प्रक्रमः स्यादुपक्रमः। स्यादभ्यादानमुद्घात आरम्भः।**
(अ० ३.२.२६)

कठिनी ३- **कठिकाकठिनीकठिनिकाः**

सम्भ्रम २- **समौ संवेगसम्भ्रमौ** (अ० १.७.३४),
सम्भ्रमत्वरा (अ० ३.२.२६)।

अम्बा २- **अम्बा माता** (अ० १.७.१४)

पतति ८- **पतत्यधोगतौ भ्रंसतेऽपि भ्रश्यति भृश्यति।**
गलति स्त्रंसतेऽष्टमी च्यवते स्कन्दतीति च॥
(अ० च० २.३.५१)

वदति (वद्) २३- द्र० **आह** (श्लोक ३, पृ० ३१)।

भवति ३- द्र० श्लोक ७, पृ० ४३।

व्याकरणम्

सन्धिः—गणना+आरम्भः=गणनारम्भः; तेन+अम्बा=तेनाम्बा-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७)। सम्+भ्रमात्=सम्भ्रमात्-मोऽनुस्वारः (८.३.२३), अनुस्वारस्य ययि० (८.४.५७)। ०भ्रमात्+यस्य=०भ्रमाद्यस्य- झलां जशोऽन्ते (८.२.३९)।

कृदन्तः—गणः गण संख्याने (चु० २८१)+णिच्-चुरादिणिच् (३.१.२५) [गण+इ], अतो लोपः (६.४.४८) इति धातोरन्त्याकारस्य लोपः, स च अत उपधायाः (७.२.११६) इति वृद्धौ कर्तव्यायां, अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१.१.५६) इति स्थानिवद् भवति, तेन वृद्धिर्न भवति, सनाद्यन्ता धातवः (३.१.३२) इति तस्य [गणि] धातुसंज्ञा, तस्माद् अच्-प्रत्ययः-एरच् (३.३.५६), णेरनिटि (६.४.५१) इति णेर्लोपः [गण्+अ=गणः]। **गणना** गण+णिच्=गणि+युच्-ण्यासश्रन्थो युच् (३.३.१०७) पूर्ववत् णिचो लोपः [गण्+यु], युवोरनाकौ (७.१.१) इति अनादेशः [गण्+अन], अजाद्यतष्टाप् [गणना], ततः हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६.१.६६) इति सोर्लोपः। **आरम्भः** आङ्+रभ राभस्ये (भ्वा० ७०१)+घञ्- भावे (३.३.१८) [आ+रभ्+अ], रभेरशब्लिटोः (७.१.६३) इति नुम्, मिदचोऽन्त्यात् परः (१.१.४६) [आ+र न् भ्+अ], नश्चापदान्तस्य झलि (८.३.२४) इति नस्यानुस्वारः, तस्य च अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८.४.५७) इति मकारादेशः [आरम्भः]। **सम्भ्रमः** सम्+भ्रमु अनवस्थाने+घञ्-भावे (३.३.१८) [सम्+भ्रम्+अ], मोऽनुस्वारः (८.३.२३), अनुस्वारस्य० (८.४.५७) [सम्भ्रमः]।, **कीदृशी** क इव पश्यतीति कीदृशी किंस्वरूपा, किम्+दृश्+कञ्- त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च (३.२.६०) [किम्+दृश्+अ], उपपदमतिङ् (२.२.१९) इति समासः, इदंकिमोरीश्की (६.३.८९) इति किमः स्थाने की-आदेशः [कीदृश], टिड्ढाणञ्० (४.१.१५) इति कञन्तात् ङीप् [कीदृश+ई], यस्येति च (६.४.१४८) इत्यकारस्य लोपः [कीदृशी+सु],

हल्ङ्याब्भ्यो० (६.१.६६) इति सोर्लोपः।

तद्धितान्तः—गुणिनः गुणाः[1] सन्ति येषु ते गुणिनो गुणवन्तः, गुण+इनि-अत इनिठनौ (५.२.११५) [गुण+इन्], यस्येति च (६.४.१४८) इत्यकारस्य लोपः [गुणिन्+जस् (अस्)=गुणिनः]। **सुतिनी** सुताः पुत्राः सन्ति यस्याः सा सुतिनी, सुत- प्रातिपदिकात् पूर्ववदिनिः [सुतिन्], ततः ऋन्नेभ्यो ङीप् (४.४.५) इति ङीप् [सुतिन्+ई=सुतिनी], हल्ङ्याब्भ्यो० (६.१.६६) इति सोर्लोपः।

समासः—गुणिनां गणः इति गुणिगणः, गुणिगणस्य गणना इति गुणिगणगणना, गुणिगणगणनायाः आरम्भः गुणिगणगणनारम्भः, सर्वत्र षष्ठीतत्पुरुषः, तस्मिन् **गुणिगणगणनारम्भे**। सम्भ्रमेण सह इति ससम्भ्रमा- तेन सहेति तुल्ययोगे (२.२.२८) इति बहुव्रीहिः, वोपसर्जनस्य (६.३.८२) इति सहशब्दस्य स्थाने सादेशः, ततष्टाप्।

तिङन्तः—पतति पत्लृ गतौ (भ्वा० ५८४)+शप्+तिप् (लट्)। **वद**- वद व्यक्तायां वाचि (भ्वा० ७३५) धातोः लोट् च (३.३.१६२) इति लोट्प्रत्ययः [वद्+ल्], युष्मद्युपपदे० (१.४.१०४) इति मध्यमपुरुषः, तस्य चैकवचनं सिप् [वद्+सि], कर्तरि शप् (३.१.६८) [वद्+अ+सि], सेर्ह्यपिच्च (३.४.८७) इति सिपः स्थाने 'हि' इत्यादेशः [वद+हि], अतो हेः (६.४.१०५) इति हेर्लुक्।

अन्वयार्थः—गुणि[2]गण[3]गणनारम्भे[4]=सद्गुणवतां महात्मनां विदुषां वा समूहस्य गणनासमये संकलनावसरे श्रेष्ठत्वेनाग्रगण्यत्वेन आदौ (एव) यस्य (नामाङ्कने, नामधेयमुल्लेखितुं), ससम्भ्रमा[5]=हर्षातिरेकेण शीघ्रत्व-सहिता आदरसहिता वा कठिनी[6]=कठिनिका न=नहि, पतति=अक्षरविन्या-

---

१. भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥ (काशिका. ५.२.९४) इत्युक्तत्वादत्र बहुत्वेऽर्थे इनिः सञ्जातः।

२. गुण- द्र. पृ० ५४।

३. गणः प्रथमसंख्यौघे चण्डासैन्यप्रभेदयोः (मे० १४.९)।

४. आरम्भस्तु त्वरायां स्यादुद्यमे वधदर्पयोः (मे० २४.१०)।

५. संभ्रमो भीतौ संवेगादरयोरपि (हैमः ३.५०४)।

६. कठिनी खटिकायामपि कठिना गुडशर्करायां च (मे० २०.४५)।

सार्थं प्रवर्तते, तेन[१]=तस्मादेव कारणाद् (निर्गुणपुत्रहेतुना) अम्बा=माता यदि[२]=तदापि सुतिनी=पुत्रिणी, अपत्यवती भवति, चेत् वन्ध्या=अनुत्पन्नापत्या, कीदृशी=किंरूपा भवति (इति) वद=कथय, चिन्तय। मूढापत्यैर्माता माता न भवति, अपितु वन्ध्यैव भवति। सन्तत्यैव जननी सुतवती न भवति, अपितु विद्यासंस्कारादिभिः सुतसर्जनेनैवाम्बा सुतिनी भवतीति यावत्।

भाषार्थः सद्गुणवान् महात्माओं वा विद्वानों की गिनती के समय जिस पुत्र वा पुत्री का नाम सर्वश्रेष्ठ के रूप में गौरव के साथ सर्वप्रथम खडिया (बत्ती, चाकपीस, लेखनी आदि लिखने के साधन) लिख नहीं देती तो उस निर्गुण सन्तान को उत्पन्न करने वाली माता यदि पुत्रिणी कहलाती है, तो वन्ध्या कौन कहलाती है? अर्थात् वही माता वन्ध्या (बाँझ) कहलाती है, जिसके पुत्र विद्वानों में परिगणित नहीं किये जाते हैं। केवल सन्तानहीन स्त्री ही बाँझ नहीं कहलाती, अपितु मूर्खपुत्रवती माँ भी बाँझ कहलाती है।

नीतिः

किं तेन जातु जातेन मातृयौवनहारिणा।
आरोहति न यः स्वस्य वंशस्याग्रे ध्वजो यथा॥ ६४॥

—पं० १.२७॥

निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम्।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम्॥ ६५ ॥

—हि० २.७॥

प्रज्ञया वा विसारिण्या यो बलेन धनेन वा।
धुरं वहति गोत्रस्य जननी तेन पुत्रिणी॥ ६६ ॥

—सु० र० भा० पृ० ९०॥

ते वन्ध्यास्ते महात्मानः तेषां लोके स्थितं यशः।
यैर्निबद्धाः प्रबन्धाश्च ये वा तेषु प्रकीर्तिताः॥ ६७॥

—सू० कु० पृ० ४॥



१. हेतौ (२.३.२३) इति तृतीया। २. पक्षान्तरे चेद् यदि च (अ० ३.४.१२)।

अपि च—

१५. दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं यशः।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः॥

अन्वयः—यस्य (पुत्रस्य) यशः दाने तपसि शौर्ये विद्यायाम् अर्थलाभे च न प्रथितं (भवति), स (पुत्रः) मातुः उच्चार एव (अस्ति)।

कोषः

दान १३- **त्यागो विहायितं दानमुत्सर्जनविसर्जने।**
विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्॥
प्रादेशनं निर्वपणमपवर्जनमंहतिः॥ (अ० २.७.२९, ३०)

शौर्य १०- **द्रविणं तरः सहोबलशौर्याणि स्थाम शुष्मं च।**
शक्तिः पराक्रमप्राणौ (अ० २.८.१०२)

प्रथित ६- **प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः** (अ० ३.१.९)

यशः ३- **यशः कीर्त्तिः समज्ञा च** (अ० १.६.११)।

अर्थ १३- द्र० श्लोकः २, पृ० २७।

लाभः ३- द्र० श्लोकः ८, पृ० ४७।

मातृ ४- **जनयित्री प्रसूर्माता जननी** (अ० २.६.२९)

उच्चार ९- **उच्चारावस्करौ शमलं शकृत्।**
गूथं पुरीषं वर्चस्कमस्त्री विष्ठाविषौ स्त्रियौ।
(अ० २.६.६७, ६८)

व्याकरण

सन्धिः—उच्चारः+एव=उच्चार एव-भोभगो----अपूर्वस्य योऽशि (८.३.१७)।

कृदन्तः—दानम् डुदाञ् दाने (जुहो०९)+ल्युट्-ल्युट् च (३.३.११५) [दा+यु], युवोरनाकौ (७.१.१)। **प्रथितम्**—प्रथ प्रख्याने (भ्वा० ५१६)+क्तः-धातोः अकर्मकत्वात् कर्त्तरि क्तः-गत्यर्थाकर्मकश्लिष० (३.४.७२), आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७.२.३५) इतीट् [प्रथ्+इत]। **विद्यायाम्** विद ज्ञाने+क्यप्-संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविद०

(३.३.९९), क्यपः कित्वात् पुगन्तलघूपधगुणनिषेधः, ततष्टाप्, ङिश्च प्रत्ययः [विद्या+इ], ङेराम् नद्याम्नीभ्यः (७.३.११६) इति ङेः स्थाने आमादेशः [विद्या+आम्], याडापः (७.३.११३) इति याट्- आगमः [विद्यायाम्]। **लाभः** लभ्यते मूलधनादधिकं प्राप्यते इति लाभः- डुलभष् प्राप्तौ (भ्वा० ७०२)+घञ्-अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (३.३.१९), इति कर्मणि घञ्, अत उपधायाः (७.२.११६) [लाभ्+अ]। **उच्चारः** उच्चार्यते अपानवायुना उत्क्षिप्यते इत्युच्चारः, उत्+चर गतौ भक्षणे च (भ्वा० ३७६)+णिच्-हेतुमति च (३.१.२६), अत उपधाया (७.२.११६) इति वृद्धिः [उत्+चार्+इ], सनाद्यन्ता धातवः (३.१.३२), अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (३.३.१९) इति कर्मणि घञ् [उत्+ चारि+अ], णेरनिटि (६.४.५१) इति णेर्लोपः [उत्+चार्+अ], कुगतिप्रादयः (२.२.१८) इति तत्पुरुषः (गतिसमासः), ततः स्तोः श्चुना श्चुः (८.४.३९) इति चुत्वम् [उच्चारः]।

तद्धितान्तः—**शौर्ये** शूरस्य भावः कर्म वा शौर्यम्, शूर+ष्यञ्-गुण-वचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (५.१.१२३), तद्धितेष्वचामादेः (७.२. ११७) [शौर+य], यस्येति च (६.४.१४८) इत्यकारलोपः [शौर्य]।

समासः—अर्थस्य लाभः **अर्थलाभः**- षष्ठीतत्पुरुषः, तस्मिन्नर्थ-लाभे।

सुबन्तः—**मातुः** मातृ+ङस् (अस्), ऋत उत् (६.१.१०७) इति ऋकार-अकारयोः स्थाने उकार एकादेशः, उरण् रपरः (१.१.५०) [मातुर् स्], रात्सस्य (८.२.२४) इति संयोगान्तस्य सस्य लोपः, ततश्च रेफस्य विसर्गः [मातुः]।

अन्वयार्थः—यस्य पुत्रस्य यशः=कीर्त्तिः, ख्यातिः दाने[१]=सत्पात्रेषु स्वीयधनस्य त्यागे, तपसि[२]=व्रतनियमपालनादिना धर्मानुष्ठाने, शौर्ये[३]=

१. दानं गजमदे त्यागे पालनच्छेदशुद्धिषु (मे० २०.१०)।
२. तपो लोकान्तरेऽपि च। चान्द्रायणादौ धर्मे च पुमान् शिशिरमाघयोः (मे० ३२.२३-२४)।
३. शौर्यमारभट्यां बलेऽपि च (हैमः २.३८८)।

शूरोचितकार्ये, वीरतायाम्, विद्यायाम्=ज्ञानोपार्जने, [१]अर्थलाभे=धनार्जने च न=नहि प्रथितम्=प्रसृतम्, विततम् भवति, सः=पुत्रः, मातुः[२]= निजजनन्याः, उच्चारः=व्यर्थपुरीषतुल्य एव अस्ति। नासौ पुत्रः, किन्तर्हि मातुःशकृत्समान भवति, तादृशः पुत्रः 'अपजातः पुत्रः'[३] इति कथ्यते।

भाषार्थः—जिस पुत्र का यश दान देने में, तप करने में, वीरता में, ज्ञान में और ऐश्वर्य में न फैला हो, अर्थात् दानादि में जिस पुत्र की प्रसिद्धि नहीं हुई हो, वह पुत्र माँ के मलमूत्र के समान निरर्थक ही है।

नीतिः

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य तु सञ्चयम्।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्यात् दानाध्ययनकर्मसु॥ ६८॥

—या० शि० २.१०७, ना.शि. २.७.२०॥

अहितहितविचारशून्यबुद्धेः श्रुतिसमयैर्बहुभिस्तिरस्कृतस्य।
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः॥ ६९॥

—पं० १.१६॥

स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य स जीवति।
गुणधर्मविहीनो यः निष्फलं तस्य जीवितम्॥ ७०॥

—वृ०चा० १४.१३॥

स जीवति यशो यस्य कीर्तिर्यस्य स जीवति।
अयशोऽकीर्तिसंयुक्तो जीवन्नपि मृतोपमः॥ ७१॥—नी०सा० ७॥

यज्जीवति क्षणमपि प्रथितं मनुष्यैर्विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्य-मानम्। तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते॥ ७२॥ —पं० १.२४॥



१. अर्थ- द्र० श्लोक २, पृ० २९।
२. माता गौर्यादिजननीगोब्रह्माण्यादिभूमिषु। मातिर्मानेऽप्यवच्छेदे (मे० १६.४४)।
३. जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च। अपजातश्च लोकेऽस्मिन्मन्तव्यः शास्त्र-वेदिभिः॥ मातृतुल्यगुणो जातस्त्वनुजातः पितुः समः। अतिजातस्त्वधिकस्तस्मादप-जातोऽधमाधमः॥ (पं० १.४२६, ४२७)

अपरं च—

१६. वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च॥

अन्वयः- गुणी पुत्रः एकः (अपि) वरम् (भवति), (परं) मूर्खशतानि च अपि (अपत्यानि) न वरम् (भवन्ति)। यथा एकः चन्द्रः तमः हन्ति, (परं) तारागणः च अपि न (हन्ति)।

कोषः

एक ३- द्र० श्लोक १०, पृ० ५९।

पुत्रः ५- द्र० पृ० ६३।

मूर्ख ६- द्र० श्लोक १२, पृ० ७०।

चन्द्र २०- **हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः॥**
विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरोषधीशो निशापतिः।
अब्जो जैवातृकः सोमो ग्लौर्मृगाङ्कः कलानिधिः॥
द्विजराजः शशधरो नक्षत्रेशः क्षपाकरः।
(अ० १.३.१३-१५)

तारा ६- **नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाप्युडु वा स्त्रियाम्।**
(अ० १.३.२१)

गण २२- द्र० श्लोक १४, पृ० ७५।

हन्ति - **ताडने ताडयति च हन्ति विध्यति तण्डते।**
प्रहरत्यात्मने सट्टयति स्फिट्टयतीति च॥
आघट्टयति चास्फालयति जासयतीत्यमी।
आहतेऽकर्मकत्वे स्यात् स्वकीयेऽङ्गे च कर्मणि॥
(आ० च० २.३.७७)

हिनस्ति संज्ञपयति सूदते हन्ति तर्दति।
प्रमापयत्यर्दयते निबर्हयति हिंसति॥
तृणेढि घातयति च शृणात्युज्जासयत्यपि।
प्रतिष्किरत्यालभते कषते मारयत्यपि॥

कषत्युन्माथयत्यत्र क्षिणोतीत्यात्मनेऽपि च।
क्षेणोति द्वे विशसति निस्तर्हयति रध्यति॥
षड्विंशतिः सूदयति हिंसायां हिंसयत्यपि।
कृणोति कृणुते पुथ्यत्यपि क्रथति तुम्फति॥
मीनात्युन्नाटयत्याद्या हिंसायां विरलोदयाः।
(धातु० सं० ११३-११७)

व्याकरणम्

सन्धिः—एकः+गुणी= एको गुणी; पुत्रः+न=पुत्रो न; तमः+हन्ति= तमो हन्ति त्रिष्वपि हशि च (६.१.११०) इत्युत्वम्, ततो गुणः। ०शतानि+अपि=०शतान्यपि-इको यणचि (६.१.७४)। ०गणः+अपि=०गणोऽपि-अतो रोरप्लुतादप्लुते (६.१.१०९) इत्युत्वम्, आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः, एङः पदान्तादति (६.१.१०५) इति पुर्वरूपैकादेशः। एकः+चन्द्रः+तमः=एकश्चन्द्रस्तमः-उभयत्रापि विसर्जनीयस्य सः (८.३.३४) इति विसर्गस्य सकारादेशः, तस्य च चकारे परतः स्तोः श्चुना श्चुः (८.४.३९) इति शकारादेशः।

कृदन्तः—वरम्, गणः, तारा (तॄ+णिच्+अच्) त्रयोऽपि पचाद्यजन्ताः (३.१.१३४)।

तद्धितान्तः—गुणी, अत इनिठनौ (५.२.११५)।

समासः—शतं च शतं च शतं चेति शतानि-एकशेषः। मूर्खाणां शतानि **मूर्खशतानि** षष्ठीतत्पुरुषः। ताराणां गणः-**तारागणः**-षष्ठीतत्पुरुषः।

सुबन्तः—०शतानि शत+जस् (अस्), जश्शसोः शि (७.१.२०) [शत्+इ], नपुंसकस्य झलचः (७.१.७२) इति नुम् [शतन्+इ], सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६.४.८) इत्युपधायाः दीर्घः [शतानि]।

तिङन्तः—हन्ति हन हिंसागत्योः (अदादि० २) धातोः वर्तमाने लट् (३.२.१२३), तस्य च स्थाने तिप्, तस्मिंश्च परतः कर्त्तरि शप् (३.१.६८) [हन्+अ+ति], अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२.४.७२) इति शपो लुक् [हन्+ति], नश्चापदान्तस्य झलि (८.३.२४) इति नस्यानुस्वारादेशः, तस्य च अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८.४.५७) इति परसवर्णः [हन्ति]।

अन्वयार्थः—गुणी=विद्यादिसद्गुणविभूषितः, पुत्रः=सुतः, एकः= एककः अपि वरम्[१]=ज्यायान्, श्रेयान् (भवति), परं मूर्खशतानि=अविद्या-मुढ़त्वादियुक्तानि अपत्यानि अनेकशः अपि न=नहि वरम्=ज्यायांसि, श्रेयांसि भवन्ति। यथा- एकः=एकाकी एव चन्द्रः[२]=निशाकरः, तमः[३]= रात्रिजन्यतिमिरं, हन्ति=नाशयति, परं [४]तारा-गणः=नक्षत्रराशिः च अपि न=नहि हन्ति।

भाषार्थः—विद्यादि सद्गुणों से युक्त पुत्र एक ही हो, तो भी ठीक है पर अविद्यादि वैगुण्य वाले मूढ़ पुत्र सौ हों तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि अकेला चन्द्रमा रात्रि के घन घोर अन्धकार को विध्वंस कर देता है, पर सैकड़ों तारा मिलकर अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ नहीं होते। ठीक वैसे ही एक ही गुणवान् पुत्र अपनी तेजस्विता से दारिद्र्यादिरूपी अन्धकार को समाप्त करने में समर्थ होता है, पर सैकड़ों मूर्ख पुत्र भी मिलकर सुखानुभूति नहीं करा सकते।

नीतिः

एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन भासते।
कुलं पुरुषसिंहेन चन्द्रेणेव हि शर्वरि॥ ७३॥

—सु०र०भा० पृ० ९०॥

एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम्।
सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति रासभी॥ ७४॥

—सु०र०भा० पृ० ९०॥

---

१. वर - द्र० श्लोकः १२, पृ० ७२।

२. चन्द्रोऽम्बुकाम्ययोः। स्वर्णे सुधांशौ कर्पूरे काम्पिल्ये मेचकेऽपि च (अनेका० २.४१९, ४२०)।

३. तमो राहौ गुणे पापे ध्वान्ते (अनेका० २.५८५)।

४. तारो वानरभिन्मुक्ताविशुद्ध्योः शुद्धमौक्तिके।
ना नक्षत्रेऽक्षिमध्ये च न ना, रूप्यं नपुंसकम्।
स्त्री बुद्धदेवताभेदे बालिगीष्पतिभार्ययोः।
त्रिलिङ्गोऽत्युच्चशब्दे च (मे० २७.४३, ४४)।

एकेनापि सुपुत्रेण जायमानेन सत्कुलम्।
शशिना चैव गगनं सर्वदैवोज्ज्वलीकृतम्॥ ७५॥

—सु०र०भा० पृ० ९०॥

विद्याविहीना बहवोऽपि पुत्राः,
कल्पायुषा सन्तु पितुः किमेतैः।
क्षयिष्णुना वापि कलावता वा,
तस्य प्रमोदः शशिनेव सिन्धोः॥ ७६॥ —सु०र०भा० पृ० ९०॥
गुणैर्गौरवमायाति न महत्यापि सम्पदा।
पूर्णेन्दुर्न तथा वन्द्यः निष्कलङ्को यथा कृशः॥ ७७॥

◈ ◈ ◈

१७. पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम्।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः॥

अन्वयः—येन क्व अपि पुण्यतीर्थे अतिदुष्करं तपः कृतम्, तस्य पुत्रः वश्यः समृद्धः धार्मिकः सुधीः (च) भवेत्।

कोषः

पुण्य, धर्म ५- **स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसो सुकृतं वृषः** (अ० १.४.२४)।
वश्य २- **वश्यः प्रणेयः** (अ० ३.१.२५)।
समृद्ध २- **अधिकर्द्धिः समृद्धः स्यात्** (अ० ३.१.११)।
सुधी २२- द्र० **प्राज्ञः** (श्लोकः २, पृ० २७)।

व्याकरणम्

सन्धिः—क्व+अपि=क्वापि-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७)।
क्वापि+अति०=क्वाप्यति०-इको यणचि (६.१.७४)।
पुत्रः+भवेत्=पुत्रो भवेत्, समृद्धः+धार्मिकः=समृद्धो
धार्मिकः-उभयत्रापि हशि च (६.१.११०) इत्युत्वम्, ततः आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः।

कृदन्तः—पुणम् (पुण्य) पुण कर्मणि शुभे च (तुदादि० ४५)+ कः-इगुपधज्ञा० (३.१.१३५) [पुण्+अ]। **कृतम्** डुकृञ् करणे (तनादि०

१०)+क्तः-निष्ठा (३.२.१०२), कित्वाद् गुणनिषेधः। **अतिदुष्करम्-** अतिदुःखेन क्रियत इति अतिदुष्करः, अति+दुस्+कृ+खल्- ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् (३.३.१२६), तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३.४.७०) इति खल्प्रत्ययः कर्मणि जातः [अति+दुस्+कृ+अ], सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः, उरण् रपरः (१.१.५०), उपपदमतिङ् (२.२.१९) इत्युपपद-(तत्पुरुष)-समासः [अतिदुस्कर], ससजुषो रुः (८.२.६६), खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८.३.१५), [अतिदुःकर], इदुदुपधस्य चाप्रत्ययः (८.३.४१), इति विसर्गस्य स्थाने षत्वम् [अतिदुष्कर]। **समृद्धः** अधिका ऋद्धिरस्य, सम्+ऋधु वृद्धौ (दिवादि० १३१, स्वा० २४)+क्त गत्यर्थाकर्मक० (३.४.७२) इति क्तः [०ऋध्+त], झषस्तथोर्धोऽधः (८.२.४०) इति तस्य धत्वम् [०ऋध्+ध], झलां जश् झशि (८.४.५२) धातोर्धस्य जश्त्वम् (द्) [सम्+ऋद्], कुगतिप्रादयः (२.२.१८) इति गतिसमासः। **धीः** ध्यायतीति धीः, ध्यै चिन्तायाम् (भ्वा० ६४८)+क्विप्-ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च (वा० ३.२.१७९) इति क्विप् प्रत्ययः, सम्प्रसारणञ्च, [ध् इ ऐ+व्], सम्प्रसारणाच्च (६.१.१०४) इति पूर्वरूपैकादेशः [धि+व्], वेरपृक्तस्य (६.१.६५) इति क्विपो लोपः [धि], हलः (६.४.२) इति सम्प्रसा-रणस्येकारस्य दीर्घः [धी], कुगतिप्रादयः (२.२.१८) इति गतिसमासः, ततः सुः, तस्य च विसर्गः [धीः], अत्र दीर्घः ङ्यापोर्दीर्घो न, अत एव हल्ङ्यादिलोपो न जातः।

तद्धितान्तः—पुणे शुभकर्मणि साधुरिति **पुण्यम्,** तत्र साधुः (४.४.९८) इति यत्, पुणमर्हतीति वा **पुण्यम्,** दण्डादिभ्यो न्यत् (५.१.६५)। **क्व** किम्+ङि+अत्-किमोऽत् (५.३.१२), सुपो धातुप्राति० (२.४.७१) [किम्+अ], क्वाति (७.२.१०५) [क्व+अ], यस्येति च (६.४.१४८) [क्व्+अ=क्व], तद्धितश्चा० (१.१.३७) इति अव्ययत्वात् अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) इति सोर्लोपः। **वश्यः** वशम् अधीनत्वं गत इति वश्यः, वश्+यत्- वशं गतः (४.४.८६), यस्येति च (६.४.१४८)। **धार्मिकः** द्र० श्लोक ११, पृ० ६८।

समासः—पुण्यं च तत् तीर्थम् इति **पुण्यतीर्थम्-** कर्मधारयसमासः- विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (२.१.५६), शोभना धीर्यस्य सः **सुधीः-** बहुव्रीहिः।

तिङन्तः—भवेत्- द्र० श्लोक ७, पृ० ४५।

अन्वयार्थः—येन=पुरुषेण क्व अपि=कस्मिंश्चिदपि पुण्य[1]तीर्थे[2]= भवसागरीयदुःखेभ्यस्तरितुं योग्ये तत्साधने वा, अतिदुष्करम्=अत्यधिकेन दुःखेन कृच्छ्रेन वा अनुष्ठेयं तपः[3]=धर्मानुष्ठानम्, आत्मोन्नतिसाधनभूतं तपश्चरणम्, कृतम्=अनुष्ठितम्, आचरितम्, तस्य=तत्पुरुषस्य पुत्रः= आत्मजः, वश्यः=वशीभूतः, आज्ञापालकः, समृद्धः=ऐश्वर्यवान्, धार्मिकः= धर्मनिष्ठः, सुधीः=विद्वान् च भवेत्=स्यात्।

भाषार्थः—जिस पुरुष ने किसी भी पवित्र तीर्थ में अतिकष्टसाध्य तप का आचरण किया हो, उसके फलस्वरूप उसका पुत्र आज्ञाकारी, सेवाभावी होगा, धनवान् होकर हर प्रकार का सुख देने वाला होगा, धर्मप्रिय और विद्वान् होगा।

नीतिः

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो,
सद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यद्,
एतत् त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते॥ ७८॥

—भर्तृ० सं० १७९॥

कुले सतताध्ययनश्रवणात् [तपसः] मेधावी जायते॥ ७९॥

—मी०शा०भा० १.२.१५॥

प्रायः सुकृतिनामर्थे देवा यान्ति सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥ ८०॥

—प्र०च० ४.७॥

---

१. पुण्यं शोभने त्रिषु। क्लीबं धर्मे च सुकृते [पावने] (मे० २६.३७, ३८)
२. तीर्थं शास्त्रे गुरौ यज्ञे पुण्यक्षेत्रावतारयोः॥ ऋषिजुष्टे जले सत्रिण्युपाये स्त्रीरजस्यपि। योनौ पात्रे दर्शनेषु। (हैमः० २.२१९, २२०)।
३. तपो लोकान्तरेऽपि च॥ चान्द्रायणादौ धर्मे च पुमान् [तपाः] शिशिरमाघयोः। (मे० ३२.२३-२४)।

यदि धर्मं यथाशक्ति जन्मप्रभृति सेवते।
ततः स पुरुषो भूत्वा सेवते नित्यदा सुखम्॥ ८१॥

—म०भा०अनु० १११.३८॥

नातप्ततपसो लोके प्राप्नुवन्ति महासुखम्॥ ८२॥

—म०भा०वन० २५९.१३॥

तपसा विन्दते महत् [सुखम्]॥ ८३॥

—म०भा०वन० ३१३.४८॥

तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः।
आयुप्रकर्षो भोगाश्च लभ्यन्ते तपसा विभोः॥ ८४॥

—म०भा०अनु० ५७.८॥

ज्ञानं विज्ञानमारोग्यं रूपं सम्पत् तथैव च।
सौभाग्यं चैव तपसा प्राप्यते भरतर्षभ॥ ८५॥

—म०भा०अनु० ५७.९॥

तपः पवित्रं वेदस्य तपः स्वर्गस्य साधनम्॥ ८६॥

—म०भा०अनु० ११२.५॥

नास्ति खल्वसाध्यं नाम तपसाम्॥ ८७॥ —कादम्बरी॥

विशेषः—

किं च तपः ? कश्च नाम पुण्यतीर्थ इत्यवधेयोऽत्र—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिमा च शारीरं तप उच्यते॥ ८८॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ ८९॥
मनःप्रसादःसोम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥ ९०॥

—म०भा०भीष्म० ४१.१४-१६॥

प्रसन्ना धीर्मनो मैत्रं दया दानं दमः क्षमा।
येषां तेषां तपः श्लाघ्यं शेषाणां कायशोषणम्॥ ९१॥[१]
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम्॥ ९२॥

—म०भा०शान्ति० ७९.१८॥

तीर्थं शौचमनर्थित्वमार्जवं सत्यमार्दवम्।
अहिंसा सर्वभूतानामानृशंस्यं दमः शमः॥ ९३॥
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः।
शुचयस्तीर्थभूतास्ते ये भैक्ष्यमुपभुञ्जते॥ ९४॥
तत्त्ववित्त्वनहं बुद्धिस्तीर्थप्रवरमुच्यते॥ ९५॥
अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृतिह्रदे।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्वमालम्ब्य शाश्वतम्॥ ९६॥
मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च।
स्नाति यो मानसे तीर्थे तत्स्नानं तत्त्वदर्शिनः॥ ९७॥

—म०भा०अनु० १०८.४, ५, ६, ३, १३॥

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्थे, सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तस्यां स्नातः पुण्यकर्मा न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥ ९८॥

—वा०पु० ४३.२४॥

सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदयातीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥ ९९॥

—स्क०पु० काशीखण्ड ६.३०॥

यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः।
सर्वतीर्थेष्वतिस्नातः पापी मलिन एव सः॥ १००॥

—प०पु०उत्तराखण्ड २३७.२९॥

---

१. जिसके पास विमल बुद्धि, प्रसन्नता, सबके प्रति मित्रता एवं दया, दानशीलता, दमनशीलता, क्षमा रूपी तप है, उन्हीं का तप प्रशंसनीय है, जिनके पास ये तप नहीं हैं, वे तो केवल तप के नाम से व्यर्थ में शरीर को सुखा देते हैं अर्थात् वे प्रशंसनीय नहीं हैं।

अपिकूलं तटाकं वा सेवितं मुनिभिः प्रिये॥
तत्तु तीर्थमिति ज्ञेयं प्रभावात् तु तपस्विनाम्॥ १०१ ॥

—म०भा०अनु० १४५॥

यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते[१] ॥ १०२ ॥

—कु०स०- ६.५६॥

विद्यातीर्थे विमलमतयः साधवः सत्यतीर्थे,
गङ्गातीर्थे मलिनमनसो दानतीर्थे धनाढ्याः।
लज्जातीर्थे कुलयुवतयो योगिनो ज्ञानतीर्थे,
धारातीर्थे धरणिपतयः कल्मषं क्षालयन्ति॥ १०३ ॥

—प्रसङ्गाहरण पृ. १०॥

धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च पुरुषस्तीर्थम्[२] ॥ १०४॥

—नीतिवाक्यामृत. २.५॥



१८. अर्थागमो नित्यमरोगिता च,
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड्जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥

अन्वयः—राजन्! नित्यम् अर्थागमः अरोगिता च, प्रियवादिनी प्रिया च भार्या, वश्यः पुत्रः, अर्थकरी च विद्या, (इमानि) षट् जीवलोकस्य सुखानि (सन्ति)।

कोषः

अर्थ १३-　द्र० श्लोकः २, पृ० २७।
नित्य ९-　**सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम्॥**
　नित्यानवरताजस्रमपि (अ० १.१.६५, ६६)
रोग ७-　**स्त्री रुग्रुजा चोपतापरोगव्याधिगदामयाः** (अ० २.६.५१)

१. जहाँ महापुरुष निवास करते हैं, वहीं तीर्थ है।
२. धार्मिक कृत्यों में सहयोग देने वाले और सब कार्यों में हाथ बटाने वाले पुरुषों को तीर्थ कहते हैं।

प्रिय ६-　**अभीष्टेऽभीप्सितं हृद्यं दयितं वल्लभं प्रियम्** (अ० ३.१.५३)
भार्या ७-　**पत्नी पाणिगृहीती च द्वितीयासहधर्मिणी॥**
　भार्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः (अ० २.६.५, ६)
सुख १२-　**मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसम्मदाः॥**
　स्यादानन्दथुरान्दशर्मशातसुखानि च। (अ० १.४.२४, २५)

व्याकरणम्

सन्धिः—अर्थ+आगमः=अर्थागमः-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७)। अर्थागमः+नित्यम्=अर्थागमो नित्यम्-हशि च, आद् गुणः (६.१.११०, ८४)। वश्यः+च= वश्यश्च-विर्जनीयस्य सः (८.३.३४), स्तोः श्चुना श्चुः (८.४.३९)। पुत्रः+अर्थकरी=पुत्रोऽर्थकरी-अतो रोरप्लुतादप्लुते, आद्गुणः, एङः पदान्तादति (६.१.१०९, ८४, १०५)।

कृदन्तः—अर्थः द्र०पृ० २८। **आगमः** आङ्+गम्लृ गतौ (भ्वा० ७०९)+ घञ्-भावे (३.३.१८), **रोगः** रुजत्यसाविति रोगः, रुजो भङ्गे (तुदादि० १२६)+घञ्- पदरुजविशस्पृशो घञ् (३.३.१६), पुगन्तलघू० (७.३.८६) इति गुणः [रोज्+अ], चजोः कु घिण्ण्यतोः (७.३.५२) इति कुत्वम्। **प्रिया** प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च (क्र्यादि० २)+कः- इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३.१.१३५), कित्वाद् गुणाभावः [प्री+अ], अचि श्नुधातु० (६.४.७७) इतीयङ् [प्रिय अ], ततः अजाद्यतष्टाप् (४.१.४) इति टाप्, हल्ङ्यादिना सोर्लोपः। **भार्या**—डुभृञ् धारण-पोषणयोः (जुहो० ५)+ण्यत्-ॠहलोर्ण्यत् (३.१.१२४) [भृ+य], अचो ञ्णिति (७.२.११५) इति वृद्धौ रपरत्वम्, पूर्ववत् टाप्सुब्लोपौ। **प्रियवादिनी** प्रियं वदतीति, प्रियं वक्तुं शीलं यस्या सा, प्रिय ङस्+वद व्यक्तायां वाचि (भ्वा० ७३५)+णिनिः-सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (३.२.७८) [प्रिय ङस्+वद्+इन्], अत उपधायाः (७.२.११६) इति वृद्धिः [प्रिय अस्+वादिन्], उपपदमतिङ् (२.२.१९), सुपो धातुप्राति० (२.४.७१) [प्रियवादिन्], ॠन्नेभ्यो ङीप् (४.१.५), ततो हल्ङ्यादिना सोर्लोपः [प्रियवादिनी]। **अर्थकरी** अर्थं करोति साधयतीति अर्थकरी, अर्थ ङस्+डुकृञ् करणे (तनादि० १०)+ट- कृञो हेतुताच्छील्या० (३.२.२०) [अर्थ अस्+कृ+अ], सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः, रपरत्वम्,

पूर्ववदुपपदसमासः, सुपो लुक् [अर्थकर], टिड्ढाणञ्० (४.१.१५) इति ङीप् [अर्थकर+ई], यस्येति च (६.४.१४८) इत्यकारलोपः, ततस्सोर्लोपः। **विद्या** द्र.पृ० २५। **जीवाः** जीवन्तीति, जीव प्राणधारणे (भ्वा० ३७९)+पचाद्यच् (३.१.१३४)। **लोकः** लोक्यते दृश्यतेऽसाविति, लोकृ दर्शने (भ्वा० ६२)+कर्मणि घञ् (अकर्तरि च० ३.३.१९), पचाद्यच् वा।

तद्धितान्तः—नित्यम् द्र०पृ० ६५। रोगः अस्यास्तीति **रोगी**, रोग+इन्-अत इनिठनौ (५.२.११५), यस्येति च (६.४.१४८) [रोगिन्+स्], सौ च (६.४.१३) इति दीर्घः [रोगीन्+स्], हल्ङ्यादिना सोर्लोपः, नलोपः प्राति० (८.२.७) इति नस्य लोपः [रोगी]। **रोगिता** रोगिणो भावः[१] रोगिता, रोगिन्+तल्-तस्य भावस्त्वतलौ (५.१.११८), अन्तर्वर्तिन्या विभक्त्या नलोपः (८.२.७) [रोगित], तलन्तः (लिङ्ग १.१७) इति स्त्रीत्वाट्टाप्- अजाद्यतष्टाप् (४.१.४), [रोगित+आ], सवर्णदीर्घैकादेशः (६.१.९७)। **वश्यः**—द्र०पृ० ८६।

समासः—अर्थस्य आगमः इति **अर्थागमः**-षष्ठीतत्पुरुषः। न रोगिता इति **अरोगिता**- नञ्तत्पुरुषः। जीवानां लोकः इति **जीवलोकः**, षष्ठी तत्पुरुषः।

अन्वयार्थः—[विदुर उवाच] राजन्=हे धृतराष्ट्र! नित्यम्=सततम्= यावज्जीवनम्, अर्थागमः[२]=धनाद्यैश्वर्यप्राप्तिः, अरोगिता[३]=रोगाणामभावः, शरीरसौख्यम्, स्वास्थ्यमिति यावत्, च=तथा, प्रियवादिनी=मधुरभाषिणी, च=एव प्रिया[४]=मनोनुकूला, भार्या=स्वस्त्री, पत्नी, वश्यः=वशंगतः, पुत्रः= तनयः, अर्थकरी=धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थप्रदा, विद्या=परापराख्यविद्या षट्=षट्संख्योपेतानि (इमानि) जीव[५]लोक[६]स्य=मानवसमाजस्य

१. इह भावशब्देन शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तं ग्राह्यम्, न तु धात्वर्थो भावः।
२. आगमः शास्त्र आगतौ (मे० २५.३९)।
३. रोगः कुष्ठौषधे व्याधौ (मे० ३.२१)।
४. प्रियो वृद्ध्यौषधे हृद्ये पत्यौ (हैमः २.३७५)।
५. जीवः प्राणिनि वृत्तौ च वृक्षभेदे बृहस्पतौ। जीवा जीवन्तिकामौर्वीवचाशिञ्जितभूमिषु॥ न स्त्री तु जीविते (मे० २९.८, ९) ६. लोको जनेऽपि भुवने (मे० १.३४)।

सुखानि[१]=सुखसाधनानि, सुखकराणि (सन्ति)।

भाषार्थः—(विदुर धृतराष्ट्र से बोले) हे राजन्! दिन-प्रतिदिन धनादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति होना, शरीर स्वस्थ रहना, तथा मधुर बोलने वाली एवं प्रिया भार्या (पत्नी) ये छह मानव समाज के सुखसाधन हैं।

नीतिः

धननिमित्तसुखं कथं वा लभ्येत?

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम्॥ १०५॥

—मनु० ४.३॥

सन्तः कुर्वन्ति यत्नेन धर्मस्यार्थे धनार्जनम्।
धर्माचारविहीनानां द्रविणं मलसञ्चयः॥ १०६॥

—सं०सु०रत्ना०पृ० ४३॥

यशस्करे कर्मणि मित्रसंग्रहे प्रियासु नारीष्वधनेषु बन्धुषु।
क्रतौ विवाहे व्यसने रिपुक्षये धनव्ययस्त्वेषु न गण्यते
बुधैः॥ १०७॥ —सं. सू०र०पृ० ४३॥

अकृत्वा परसन्तापम् अगत्वा खलमन्दिरम्।
अनुसृज्य सतां वर्त्म यत् स्वल्पमपि तद् बहु॥ १०८॥

स्वास्थ्यसुखम्—

हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्॥ १०९॥

—च०सं०नि० ६.१२॥

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ ११०॥

—सु०सं०सू० १५.४१॥

१. सुखं द्र० श्लोकः ६, १३।

स्त्रीनिमित्तं सुखम्—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥ १११॥

—मनु० ३.५६॥

दम्पत्योः कलहो नास्ति तत्र श्रीः स्वयमागता। ११२॥

—चा०नी०द० ३.२१॥

पुत्रनिमित्तं सुखं कदा भवति?

यस्मिन् दिने पितुरभूत् तनयस्य जन्म,
तस्मिन् दिने न जनितः सुतजः प्रमोदः।
सर्वे यदा सुतममुं सुगुणं स्तुवन्ति
पुत्रप्रसूतिसुखं हि पितुस्तदा स्यात्॥ ११३॥ —सू०मु० १८३॥
नानपत्यस्य स्वर्गः[1]॥ ११४॥ —चा०सू० ३८८॥



१९. को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलापूरणाढकैः?
वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्रूयते पिता॥

अन्वयः—कुशूलापूरणाढकैः [इव] बहुभिः पुत्रैः कः [पिता] धन्यः [भवति]? [कोऽपि न, किन्तु] कुलालम्बी एकः [अपि पुत्रः] वरम्, यत्र पिता विश्रूयते॥

कोषः

धन्य ३-	**सुकृती पुण्यवान् धन्यः** (अ० ३.१.३)
बहु १२-	**प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु।**
	पुरुहं पुरु भूयिष्ठं स्फिरं भूयश्च भूरि च॥ (अ० ३.१.६३)
पितृ ३-	**तातस्तु जनकः पिता** (अ० २.६.२८)
विश्रूयते -	द्र० **श्रृणोति**- पृ० ५१।

व्याकरणम्

सन्धिः—कः+धन्यः+बहुभिः=को धन्यो बहुभिः-उभयत्रापि हशि

१. जिसका पुत्र सुपुत्र नहीं होता उसे सुख प्राप्त नहीं होता।

च, आद् गुणः (६.१.११०, ८४)। कुशूल+आपूरण+आढकैः=कुशूलापूरणाढकैः-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७)।

कृदन्तः—आपूरणाः आ समन्तात् पूर्यन्त इति, आ+पूरी आप्यायने (चुरादि० २२६)+णिच्+युच्-ण्यासश्रन्थो युच् (३.३.१०७), युवोरनाकौ (७.१.१) [आ पूर्+इ+अन], णेरनिटि (६.४.५१), कुगतिप्रादयः (२.२.१८) [आपूरन], अट्कुप्० (८.४.२), ततष्टाप्-अजाद्यतष्टाप् (४.१.४), हल्ङ्यादिना सोर्लोपः। **आढकैः** आङ्+ढौकृ गतौ (भ्वा० ७४)+पचाद्यच् (३.१.१३४), पृषोदरादित्वात् (६.३.१०८) इत्यत्वम्, तैः। **कुलम्** कुल संस्त्याने बन्धुषु च (भ्वा० ५८३)+कः-इगुपधज्ञा० (३.१.१३५), कित्वाद् गुणाभावः। कुलम् आलम्बते, आलम्बितुं शीलमस्य वा **कुलालम्बी**—कुल ङस्+आ+लबि शब्दे अवस्रंसने च (भ्वा० २६२, २६३)+णिनिः-सुप्यजातौ णिनिस्ताछील्ये (३.२.७८), इदितो नुम् धातोः (७.१.५८), तस्य च नुमः नश्चापदान्तस्य झलि (८.३.२४), अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८.४.५७) इत्यनुस्वारपरसवर्णौ [कुल अस्+आ+लम्ब्+इन्], उपपदमतिङ् (२.२.१९), सुपो धातुप्राति० (२.४.७१) इति समास- सुब्लोपौ, अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७) इति सवर्णदीर्घैकादेशः [कुलालम्बिन्+सु], सौ च (६.४.१३) इति दीर्घः, हल्ङ्यादिना सोर्लोपः।

तद्धितान्तः—धन्यः धनं[1] लब्धा धन्यः- धन अम् यत्- धनगणं लब्धा (४.४.८४), सुपो धातुप्राति० (२.४.७१) [धन+य], यस्येति च (६.४.१४८) इति अकारलोपः [धन्य]।

समासः—आपूरणाः इत्यत्र गतिसमासः प्रदर्शितः। कुशूलस्य आपूरणा इति कुशूलापूरणाः-षष्ठीतत्पुरुषः। कुशूलापूरणाश्च ते आढका इति **कुशूलापूरणाढकाः**-कर्मधारयः, तैः कुसूलापूरणैः। **कुलालम्बी**-इत्यत्रोपपदतत्पुरुषो वर्णितः।

तिङन्तः—विश्रूयते वि+श्रु श्रवणे+लट्- स च लट् लः कर्मणि

१. कर्तृकर्मणोः कृति (२.३.६५) इति कृद्योगे कर्मणि षष्ठी नेह शङ्कनीया। यतोहि 'लब्धा' इत्यत्र तृन् प्रत्ययः, न तु तृच्। अतः तृन्योगे षष्ठ्याः निषेधः- न लोकव्यय- ----तृनाम् (२.३.६९) इति।

च० (३.४.६९) इति कर्मणि जातः, सार्वधातुके यक् (३.१.६७) [वि+श्रु+य+त], अकृत्सार्व० (७.४.२५) [विश्रूयत], टित आत्मने० (३.४.७९) इत्येत्वम्।

अन्वयार्थः—कूशूलापूरणाढकैः[1]=तुषैः आपूरिताः अन्नादिमापकपात्रविशेषाः तैः इव धान्यागारपूरणायासमर्थैः आढकपात्रैरिव वा बहुभिः[2]=पुरुभिः पुत्रैः=सुतैः कः [पिता] धन्यः[3]= पुण्यवान् [भवति] ? कोऽपि न भवतीत्यर्थः। यथा निर्मूल्यैरल्पमूल्यैः तुषैः पूरिताः पात्रा[4] अपि निर्मूल्या अल्पमूल्या वा एव भवन्ति, तथैव अल्पमूल्यैरमहत्वैः गुणैर्युक्ताः पुत्रा अपि अमहत्वा एव भवन्ति। तादृशैः पुत्रैः कोऽपि पिता धन्यो न भवतीति यावत्। किन्तु कुला[5]लम्बी=कुलेन वंशेन आश्रितः, कुलस्याभ्युदयकरः एकः=एकाकी अपि पुत्रः वरम्=श्रेष्ठः, यत्र=यस्मिन् पुत्रे जाते सति पिता=जनकः विश्रूयते=ख्यातो भवति, लोके महीयते।

अपरश्चार्थः—कूशूलापूरणाढकैः आढ़कपरिमितैः पुत्रैः=पुत्रस्थानीयधान्यादिभिः कः=कः पुरुषः, धन्यः=धनीति गण्यते ? न कोऽपीत्यर्थः। आढकपरिमितेन धान्यराशिना न कोऽपि धन्यतां लभते। परन्तु एकेन कुलालम्बिना=कुलदीपकेन रत्नादिना सागर इव पिता=जनको 'धन्यः' इति लोके भण्यते।

भाषार्थः—भूसे से परिपूर्ण आढक परिमित (अढ़ैया= ढ़ाई सेर) पात्रों के समान [जो कि कोठरी (कोठा, भण्डार घर) को भरने में असमर्थ है] बहुत से निर्गुण एवं मूर्ख पुत्रों [जो कि आढक परिमित

१. पलं निकुञ्चनं मुष्टिः कुडवस्तच्चतुष्टयम्। चत्वारः कुडवाः प्रस्थश्चतुःप्रस्थमथाढ़कम्॥
 १ कुडव=१२.५ तोला=२.५ छटांक।
 ४ कुडव=१ प्रस्थ=५० तोला=ढाई पाव।
 ४ प्रस्थ=१ आढ़क=५० पल=२०० तोला=ढाई सेर (द्र० अर्थशास्त्र २.१९)।
२. बहुः स्यात् त्र्यादिसंख्यासु विपुलेऽप्यभिधेयवत्॥ (मे० ३३.६)
३. धन्या धात्र्यामलक्योः स्याद् धन्यं पुण्यवति त्रिषु। (मे० २६.३३)
४. अर्धर्चा पुंसि च (२.४.३१) इति पात्रशब्दः पुंसि भवति क्लीबे च।
५. कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च। भवने च तनौ क्लीबं कण्टकार्य्योषधौ कुली॥ (मे० २८.९)

अर्थात् ढ़ाई सेर, अल्पपरिमित वैचारिक शक्तिवालों] से कौन पिता धन्य व भाग्यवान् होगा ? अर्थात् कोई नहीं। परन्तु जो पुत्र सम्पूर्ण कुल व वंश का आधार स्वरूप है, ऐसा एक ही पुत्र हो, तो भी पिता धन्य होता है, लोक में उसकी ख्याति होती है, उसका गुणगान लोक में सर्वत्र गुञ्जायमान होता है।

नीतिः

दुर्बलार्थं बलं यस्य धर्मार्थश्च परिग्रहः।
वाक् सत्यवचनार्थं च पिता तेनैव पुत्रवान्॥ ११५॥
प्रदोषे दीपकश्चन्द्रः प्रभाते दीपको रविः।
त्रैलोक्ये दीपको धर्मः सुपुत्रः कुलदीपकः॥ ११६॥
दुर्गतेः पितरौ रक्षति स पुत्रः। कुलं प्रख्यापयति पुत्रः। ११७॥

—चा०सू० ३८६, ३८७॥

य उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्रः॥ ११८॥

—नी०वा० ५.११॥



२०. यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः। धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति॥

अन्वयः—गुणवान् नरः यस्य कस्य अपि [वंशे, उदरे वा] प्रसूतः [सन्, जनैः] पूज्यते, निर्गुणः धनुः वंशविशुद्धः अपि किं करिष्यति ?

अथवा—नरः यस्य कस्य [कुले, कुक्षौ वा] प्रसूतः अपि [यदि] गुणवान् [अस्ति चेत्, स लोकैः] पूज्यते [एव], धनुः वंशविशुद्धः अपि [यदि सः] निर्गुण [अस्ति चेत्, तदा सः] किं [कार्यं] करिष्यति ?

कोषः

नरः ११- द्र० श्लोकः ४, पृ० ३४।

धनुस् ७- **अथास्त्रियौ॥ धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्। इष्वासोऽपि** (अ० २.८.८३)

वंश १०- **वंशे त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजाः॥**

(वेणुनामानि) **शतपर्वा यवफलो वेणुमस्करतेजनाः।**
(अ० २.४.१६०, १६१)

वंश ९- **संततिगोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ।**
(कुलनामानि)- **वंशोऽन्ववायः सन्तानः** (अ० २.७.१)

गुण ४- **मोर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः** (अ० २.८.८५)
(ज्यानामानि)-

पूज् १९- **अथार्चत्यञ्चति भजत्यपचायति चात्मने॥**
चत्वारि वल्गूयति च सभाजयति मानति।
सपर्यत्यर्चयति चाराध्नोति महयत्यपि॥
पूजयत्यर्हयति च महयत्याराधयत्यपि।
मानयत्यञ्चयति चार्हति यक्षयतेऽर्चने॥ (आ०च० २.२.६)

डुकृञ् ५- **कृतौ करोत्यावहति विदधात्यादधाति च॥**
वितनोत्यात्मने पञ्च (आ०चा० २.१.२)

व्याकरणम्

सन्धिः—प्रसूतः+अपि=प्रसूतोऽपि; ०विशुद्ध+अपि=०विशुद्धोऽपि अतो रोरप्लुता०, आद् गुणः, एङः पदान्तादति (६.१.१०९, ८४, १०५)। धनुस्+वंश०=धनुर्वंश०-ससजुषो रुः (८.२.६६) इति रुत्वम् (र्), परे खरोऽभावान्न विसर्गः। निस् (निर्)+गुण=निर्गुणः-पूर्ववत् ज्ञेयम्।

कृदन्तः—प्रसूतः प्र+षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, प्राणिप्रसवे (अदा० २४; दिवादि० २२)+क्तः-निष्ठा (३.२.१०२), धात्वादेः षः सः (६.१.६२) [प्र+सू+त], कित्वाद् गुणनिषेधः-क्ङिति च (१.१.५), यस्य विभाषा (७.२.१५) इति इटो निषेधः। **गुणः** गुण आमन्त्रणे (चुरादि० ३१६)+णिच्+अच्-एरच् (३.३.५६), अकर्तरि च० (३.३.१९) इति घञ् वा, अदन्तोऽयं धातुः, अतः णिचि परतः अतो लोपः (६.४.४८) इत्यल्लोपः, स च लोपो लघूपधगुणे कर्तव्ये अचः परस्मिन्० (१.१.५६) इति स्थानिवद् भवति, तेन गुणस्याभावः, णेरनिटि (६.४.५१) इति णेः लोपः [गुण्+अ= गुण]। **नरः** नॄ नये (क्र्यादि० २६)+पचाद्यच् (३.१.१३४), सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः,

उरण् रपरः (१.१.५०) [नर् अ]। **वंशः** वश कान्तौ (अदा० ७२)+घञ्-अकर्तरि च० (३.३.१९), संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः (पारि० १२०) इति नियमान्न वृद्धिः, संख्या वंश्येन (२.१.१८) इति निर्देशान्नुम्, तस्य च नुमः नश्चापदान्तस्य० (८.३.२४) इत्यनुस्वारः। **विशुद्धः** वि+शुध शौचे (दिवादि० ८०)+क्त-निष्ठा (३.२.१०२), एकाच उपदेशे० (७.२.१०) इतीण्णिषेधः, कित्वाद् गुणनिषेधः [वि+शुध्+त], झषस्तथोर्धोऽधः (८.२.४०) इति तस्य धादेशः झलां जश् झशि (८.४.५२) इति धस्य जश्त्वम् [वि+शुद्ध], कुगतिप्रादयः (२.२.१८) इति गतिसमासः।

तद्धितान्तः—गुणवान् गुणाः सन्ति अस्येति गुणवान्, गुण जस् मतुप्-तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५.२.९४), सुपो धातु० (२.४.७१), [गुण+मत्], मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (८.२.९) इति मस्य वत्वम् [गुणवत्+सु=स्], अत्वसन्तस्य चाधातोः (६.४.१४) इत्युपधाया दीर्घत्वम् [गुणवात्+स्], उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७.१.७०) इति नुम् [गुणवान्त् स्], हल्ङ्यादिना सोर्लोपः, संयोगान्तस्य लोपः (८.२.२३) [गुणवान्]।

समासः—वंशः विशुद्धः यस्य स (धनुः) वंशविशुद्धः- बहुव्रीहिः, वंशेन[1] विशुद्धः **वंशविशुद्धः**[2] इति तृतीयातत्पुरुषो वा। निर्गता गुणा यस्मात् स **निर्गुणः**- बहुव्रीहिः-अनेकमन्यपदार्थे (२.२.२४), प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदस्य लोपश्च० (वा० २.२.२४) इति पूर्वपदस्थोत्तरपदस्य गतशब्दस्य लोपः।

सुबन्तः—यस्य कस्य प्रसूतः-स्वामीश्वराधिपति----प्रसूतैश्च (२.३.३९) इति शेषे षष्ठीविभक्तिः, ''यत्र कुत्र प्रसूतः'' इति पाठान्तरे तेनैव सूत्रेण शेषे सप्तमी विभक्तिर्भवति। यस्मिन् कस्मिन् [चिद् अपि] प्रसूतः इति तस्य भावः। सप्तम्याः पक्षेऽधिकरणकारकत्वं नाशङ्कनीयम्। उक्तञ्च कैयटेन-''शेषषष्ठीविषये सप्तमीविधानान्नास्ति कारकत्वम् (म०भा०

---

१. हेतौ (२.३.२३) इति हेत्वर्थे तृतीया।

२. बहुव्रीहौ 'निष्ठा' (२.२.३६) इति निष्ठान्तो विशुद्धशब्दः पूर्वः प्रयोक्तव्यो भवति, परमिह 'निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम्' (वा० २.२.३६) इति परप्रयोग एव निष्ठायाः।

२.१.२, पृ० ३५२।२)।''

तिङन्तः—पूज्यते पूज पूजायाम् (चुरादि० १११)+णिच्+यक्+त-अत्र लः कर्मणि च० (३.४.६९) इति लट्-प्रत्ययः कर्मणि जातः, तेन भावकर्मणोः (१.३.१३) इत्यात्मनेपदम्, सार्वधातुके यक् (३.१.६७), णेरनिटि (६.४.५१) इति णिचो लोपः [पूज्+य+त], टित आत्मनेपदानां टेरे (३.४.७९)। **करिष्यति** डुकृञ् करणे+स्य+तिप्-अत्र लृट् शेषे च (३.३.१३) इति लृट्, स च कर्त्तरि (३.४.६९), स्यातासी लृलुटोः (३.१.३३) [कृ+स्य+ति], आर्धधातुकस्येड्०, एकाच् उपदेशे०, ऋद्धनोः स्ये (७.२.३५.१०.७०), सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणे रपरत्वम्, [कर्+इस्य+ति], आदेशप्रत्यययोः (८.३.५९) [करिष्यति]।

अन्वयार्थः—नरः[१]=मनुष्यः (स्त्री वा पुरुषो वा) यस्य कस्य=कस्यचिदपि, यस्य कस्यापि सम्बन्धिते कुक्षौ वा प्रसूतः=प्राप्तजन्मः सन् अपि, यदि सः गुणवान्=विद्याधर्मादिगुणयुक्तः अस्ति चेत्, सः लोकैः, जनैः पूज्यते=सत्क्रियते, मह्यते, आराध्यत एव। धनुः[२]=चापः, वंश[३]-विशुद्धः=वंशनिमित्तेन विशुद्धः सुदृढः सन् अपि, यदि सः निर्गुणः[४]=ज्याहीनः अस्ति चेत्, तदा सः किम्=किं कार्यं, किमुद्देश्यम्, लक्ष्यम्, करिष्यति=साध्यति, निर्वर्तयति? किमपि नेति भावः। तथैव नरः अपि वंशविशुद्धः=वंशनिमित्तेन उन्नतः अपि यदि स निर्गुण=अगुणः, निर्बुद्धिः अस्ति चेत्, तदा सः पित्रोः वंशस्य वा किं कार्यं करिष्यति, साधयिष्यति? किमपि नेति यावत्।

भाषार्थः—मनुष्य उच्चकुलोत्पन्न हो या नीचकुलोत्पन्न, यदि वह गुणवान् हो तो वह लोक में सम्मानित होता है। धनुष सुदृढ़ और अच्छे सुन्दर बांस से निर्मित होने पर भी यदि उसमें गुण (डोरी) न हो, तो वह किसी काम का नहीं रहता है, अर्थात् वह निरर्थक ही है। वैसे ही मनुष्य भी उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हो, वह निर्गुण एवं मूढ हो तो वह

---

१. नर -द्र० श्लोकः ४, पृ० ३४।

२. धनुः पुमान् प्रियालद्रौ राशिभेदे शरासने (मे० २०.११), धनुः पियाले ना न स्त्री राशि भेदे शरासने। धनुर्द्धरे त्रिषु (मे० ३२.२६)।

३. वंश- द्र० श्लोकः १३, पृ० ७४। ४. द्र० पृ० ५४।

माता, पिता या कुल के किसी कार्य को सिद्ध करने वाला नहीं होता, अर्थात् वह सर्वथा निरर्थक ही होता है।

नीतिः

पुत्रे गुणवति कुटुम्बिनः स्वर्गः[१] ॥ ११९ ॥ —चा० सू० ३८१॥
पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते[२] ॥ १२० ॥ —रघु० ३-६२॥
न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥ १२१ ॥ —कु० ५.१६॥
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं, न च वयः[३] ॥ १२२ ॥ —उ० राम ४.११॥

गुणेषु क्रियतां यत्नः किमाटोपैः प्रयोजनम्।
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः[४] ॥ १२३ ॥ —शा.पा. २९८॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतञ्च।
पराक्रमश्चबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च॥ १२४ ॥ —सं० सु०र० पृ० २७॥



२१. हा हा पुत्रक! नाधीतं गतास्वेतासु रात्रिषु।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि॥

---

१. पुत्र के सदाचारी एवं गुणवान् होने पर पितादि कुटुम्बियों को अनुपम सुख होता है, अन्यथा नारकीय महान् दुःख का सामना करना पड़ता है।

२. गुण ही सर्वत्र प्रतिष्ठित होते हैं।

३. गुणवानों में गुण ही आदरणीय हैं, आदर के कारण है, न कि स्त्री, पुरुष आदि लिङ्ग भेद, और न ही बाल, वृद्ध आदि अवस्थाभेद आदर के कारण हैं। उपलक्षण से यहां यह भी ग्राह्य है कि महानता का कारण व्यक्ति के अपने ही गुण होते हैं, न कि श्रेष्ठकुलोत्पत्ति। उक्तञ्च-कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद् दूर्वापि गोरोमतः, पङ्कात्ताम-रसं शशाङ्क उदधेरिन्दीवरं गोमयात्। काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना, प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना॥ (पं० १.१०३)

४. श्रेष्ठ कुल या धनी कुल में उत्पन्न होने के मिथ्याभिमानों, आडम्बरों से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? अतः गुणों के लिये प्रयत्न करना चाहिए। दुग्ध रहित गायें घण्टा आदि के अलङ्कारों से नहीं बिकती।

अन्वयः—हा हा पुत्रक! एतासु गतासु रात्रिषु (त्वया यत्) न अधीतम्, तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के (मग्ना) गौ इव सीदसि (विषीदसि)।

कोषः

रात्रि १२- **अथ शर्वरी॥**
निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा।
विभावरीतमस्विन्यौ रजनी यामिनी तमी॥ (अ० १.४.४)

विद्वस् २२- द्र० प्राज्ञः, पृ० २७।

मध्य ३- **मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री।** (अ० २.६.७९)

पङ्क ५- **निषद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ।** (अ० १.१०.९)

गो ९- **उक्षा भद्रो बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः॥**
(वृषभनामानि) **अनड्वान् सौरभेयो गौः** (अ० २.९.५९, ६०)

गो ९- **माहेयी सौरभेयी गौरुस्रा माता च श्रृङ्गिणी अर्जुन्यघ्न्या रोहिणी स्यात्** (अ० २.९.६६.६७)

सद् ३- **स्युरास्ते तूपविशति निषीदत्युपवेशने** (आ०च० २.२.३६)

व्याकरणम्

सन्धिः—न+अधीतम्=नाधीतम्-अकः सवर्णे० (६.१.९७) गतासु+एतासु=गतास्वेतासु- इको यणचि (६.१.७४)। गौस्- गौर्+इव=गौरिव- परे खरोऽभावे विसर्गाभावः।

कृदन्तः—**अधीतम्** अधि+इङ् अध्ययने (अदादि० ३९)+क्त- निष्ठा (३.२.१०२) [अधि+इ+त], कित्वाद् गुणनिषेधः, ततश्च सवर्णदीर्घैकादेशः (६.१.९७)। **गतासु** गम्लृ गतौ (भ्वा० ७०९)+क्त निष्ठा (३.२.१०२) [गम्+त], इह किति परतः अनुदात्तोपदेश० (६.४.३७) इति मस्य लोपः [गत], अजाद्यतष्टाप् (४.१.४) [गत+आ], ततः सवर्णदीर्घैकादेशः, हल्ङ्यादिना सोर्लोपः। **विदुषाम्** विद्वस्-प्रातिपदिकस्य सिद्धिः श्लोक० ११. पृ० ६७ इत्यत्र द्रष्टव्या [विद्वस्+आम्], यचि भम् (१.४.१८) इति भत्वाद् वसोः सम्प्रसारणम् (६.४.१३१) इति सम्प्रसारणम् [विद् उ अ स्+आम्], सम्प्रसारणाच्च (६.१.१०४) इति पूर्वरूपैकादेशः [विदुस्+आम्], आदेशप्रत्यययोः (८.३.५९) इति षत्वम्, शासिवसि० (८.३.६०) इत्यनादेशार्थं विधानान्नेह प्रवर्तते। साहचर्यनियमाद्वात्र वसुधातोरेव ग्रहणम् नादेशस्य।

तद्धितान्तः—अनुकम्पितः पुत्र इति **पुत्रकः** अनुकम्पायाम् (५.३.७६) इति कन् [पुत्रक], सम्बोधने च (२.३.४७) इति प्रथमा [पुत्रक सु], एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६.१.६७) इति सोर्लोपः।

सुबन्तः—**एतासु** एतत्+सुप्, त्यदादीनामः (७.२.१०२) इत्यकारान्तादेशः [एत अ सु], अतो गुणे (६.१.९४) इति पररूपैकादेशः [एत सु], अजाद्यतष्टाप् (४.१.४) इत्यकारान्ताद् प्रातिपदिकादुत्तरे टाप् [एत आ सु][1], अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७) [एतासु]। **रात्रिषु** रात्रि+सु- आदेशप्रत्यययोः (८.३.५९)। **तेन** तत्+टा- हेतौ (२.३.२३) इति तृतीया, पूर्ववदकारान्तादेशपूर्वरूपैकादेशौ [त+आ], टाङसिङसामिनात्स्याः (७.१.१२) इतीनादेशः [त+इन्], आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः [तेन]। **त्वम्** युष्मद्+सु-ङेप्रथमयोरम् (७.१.२८) इत्यमादेशः [युष्मद्+अम्[2]], त्वाहौ सौ (७.२.९४) इति मपर्यन्तस्य स्थाने त्वादेशः [त्व अद्+अम्], अतो गुणे (६.१.९४) इति पररूपम् [त्वद्+अम्], शेषे लोपः (७.२.९०) इत्यद्भागस्य लोपः [त्व्+अम्=त्वम्]।

तिङन्तः—**सीदसि** षदलृ विशरणगत्यवसादनेषु (भ्वा० ५९३) धात्वादेः षः सः (६.१.६२) इति सादेशे [सद्+शप्+सिप्= सद्+अ+सि], पाघ्राध्मास्था० (७.३.७८) इति सदः स्थाने सीदादेश [सीद्+अ+सि]।

अन्वयर्थाः—हा हा[3]=इति खेदसूचकमव्ययम्, दुःखेनानुकम्पया च पिता पुत्रं वदति यद् पुत्रक!=मदनुकम्पयानुकम्पित! हे पुत्र! एतासु गतासु=अधुनैव (अविस्मृतासु) मुधा व्यतीतासु आसु, रात्रिषु=निशासु, अहर्निशेषु इति भावः, त्वया यत् न अधीतम्=शास्त्रादिकं नाभ्यस्तम्, तेन=तद्धेतुना, अनभ्यस्तकारणेन, त्वम् विदुषाम्=धीमताम्, पण्डितानाम्

---

१. गर्भवट्टाबादयो भवन्ति (पारि० १३३)।

२. हलन्त्यम्, न विभक्तौ तुस्माः (१.३.३, ४), स्थानिवदादेश० (१.१.५५) इति विभक्तित्वम्।

३. हा विषादे च शोके च कुत्सादुःखार्थयोरपि (मे० अव्यय० ८६)।

मध्ये[1]=समावेशे, सभायाम्, पङ्के[2]=निषद्वरे[3] मग्नो गौः[4] इव=वृषभवत्, गोवद्, अन्यैः पशुभिस्तुल्यं वा सीदसि=विषीदसि, विषण्णो भवसि, विषादं दुःखं लभस इति यावत्।

भाषार्थः—हे पुत्र! दुःख है कि इन बीती हुई बाल्यकाल की रात्रियों में, अध्ययन करने के दिनों में तुम ने नहीं पढ़ा, अत एव आज तुम विद्वन्मण्डलि में जाकर दलदल के कीचड़ में फसे बैल के समान दुःखी हो रहे हो।

नीतिः

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी च मध्यमः।
अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्त्तोच्चरितं पितुः[5]॥ १२५॥



तत्कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम्?
यतः—

कोषः

इदानीम् ५- **एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा** (अ० ३.४.२३)

व्याकरणम्

सन्धिः—पुत्राः+गुणवन्तः= पुत्रा गुणवन्तः- भोभगो० (८.३.१७) इति रोः यः, तस्य च यकारस्य लोपः शाकल्यस्य (८.३.१९) इति लोपः।

१. मध्यं वलग्ने न स्त्री स्यान्न्याय्येऽन्तरेऽधमेऽन्यवत् (मे० २६.४४)।

२. पङ्कोऽस्त्री कर्दमे पापे (मे० १.२९)।

३. निषीदन्ति विषण्णा भवन्ति जना अत्रेति निषद्वरः पङ्कः, नि+सद्+ष्वरच्- नौ षदेः (उणादि० २.१२४), सदिरप्रतेः (८.३.६६) इति षत्वम्।

४. गौरुदके दृशि। स्वर्गे दिशि पशौ रश्मौ व्रजे भूमाविषौ गिरि (हैमः० १.६)।

५. उत्तम पुत्र वह है जो पिता के मनोगत चिन्तन व विचारों को ही जानकर कार्य कर लेता है, मध्यम पुत्र वह है जो पिता के कहने पर श्रद्धा के साथ करता है, और अधम पुत्र वह है जो कहने पर अश्रद्धा से, क्रोधादि से कार्य करता है। और जो कहने पर भी कार्य करता ही नहीं है, आदेश को मानता ही नहीं है, वह तो पुत्र कहने योग्य ही नहीं है, वह तो सर्वथा निरर्थक वस्तु मात्र है।

तद्धितान्तः—केन प्रकारेणेति **कथम्,** किम्+टा+थमु- किमश्च (५.३.२५) इति थमु प्रत्ययः स्वार्थे, सुपो धातुप्राति० (२.४.७१) इति सुपो लुक् [किम्+थम्], प्राग्दिशो विभक्तिः (५.३.१) इति थमो विभक्तित्वम्, तस्याञ्च परतः किमः कः (७.२.१०३) इति क आदेशः, तद्धितश्चासर्व० (१.१.३७) इत्यव्ययत्वाद् अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२)। अस्मिन् काल इति **इदानीम्** इदम्+ङि+दानीम्- दानीम् (५.३.१८) [इदम्+दानीम्], इदम इश् (५.३.३) इति इदमः स्थाने इशादेशः। गुणाः सन्ति येष्विति **गुणवन्तः** गुण+जस्+मतुप्-तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५.२.९४) [गुणमत्+जस्], मादुपधायाश्च० (८.२.९) इति मस्य वः [गुणवत्+ अस्], उगिदचां० (७.१.७०) इति नुम् [गुणवन्त्+अस्]। **यतः** यत् ङसि+तसिल्- पञ्चम्यास्तसिल् (५.३.७), त्यदादीनामः (७.२.१०२) [य अ तस् यतः]।

सुबन्तः—**एते** एतत्+जस्, जसः शी (७.१.१७), त्यदादीनामः (७.२.१०२) [एत अ+ई], अतो गुणे (६.१.९४) [एत+ई], आद् गुणः (६.१.८४) [एते]। **मम** अस्मद्+ङस्, तवममौ ङसि (७.२.९६), यथासंख्यमनु० (१.३.१०) [मम अद्+अस्], अतो गुणे (६.१.९४) [ममद्+अस्], युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् (७.१.२७), शेषे लोपः (७.२.९०) [मम्+अ]।

तिङन्तः—**क्रियन्ताम्** डुकृञ् करणे (तनादि० १०)+वर्तमाने लट् (३.२.१२३), स च लट् कर्मणि जातः-लः कर्मणि च० (३.४.६९) इति, ततस्तिबाद्युत्पत्तिः, भावकर्मणोः (१.३.१३) इति तङ् [कृ+झ], सार्वधातुके यक् (३.१.६७) [कृ+य+झ], कित्वाद्गुणाभावः, रिङ् शयग्लिङ्षु (७.४.२८) [क्रि+य+झ], झोऽन्तः (७.१.३), टित आत्मनेपदानां टेरे (३.४.७९) [क्रि+य+अन्ते], अतो गुणे (६.१.९४), आमेतः (३.४.९०) [क्रियन्ताम्]।

अन्वयार्थः—तत्=तत्कारणात्, इदानीम्[1]=एतस्मिन् काले, सम्प्रति [अपि] मम=सुदर्शनस्य, एते=इमे, पुत्राः=सुताः, कथम्[2]=केन प्रकारेण

१. इदानीं वाक्यभूषायां सम्प्रत्यर्थे च दृश्यते (मे० अव्यय० ६२)।

२. कथं हर्षे च गर्हायां प्रकारार्थे च सम्भ्रमे। प्रश्ने सम्भावनायाञ्च (मे० अव्यय० ५८)।

गुणवन्तः=विद्यादिगुणगणमण्डिताः, क्रियन्ताम्=विधीयन्ताम्। यतः= यस्माद्धेतोः—

भाषार्थः—इसलिए, अब भी मेरे ये पुत्र किस प्रकार गुणवान् बनाये जा सकते हैं! क्योंकि—



२२. आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः
समानाः॥

अन्वयः—नराणाम् आहारनिद्राभयमैथुनं च एतत् (सर्वं कार्यं) पशुभिः (सह) सामान्यम् (भवति)। (परं) तेषां (आहारादिभ्यो भिन्नः एकः) अधिकः धर्मः हि (पशुभ्यः) विशेषः अस्ति। (ये नराः तेन) धर्मेण हीनाः (सन्ति, ते) पशुभिः समानाः (भवन्ति)।

कोषः

आहार १७- **जेमनं भोजनं जग्धिरशनं स्वदनं तथा।**
जमनं न्यादलेपौ च निगरोऽभ्यवहारश्च॥
निघषश्च विघसश्चैव प्रत्यवसानं च भक्षणम्।
निघसो लेह आहारः (स्वकीयौ)

निद्रा ५- **स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि॥** (अ० १.७.३६)

भय ६- **दरत्रासौ भीतिर्भीः साध्वसं भयम्।** (अ० १.७.२१)

मैथुन ५- **व्यवायो ग्राम्यधर्मो मैथुनं निधुवनं रतम्।** (अ० २.७.५७)

पशु ५- **खुराकः स्यात् पशुर्जन्तुः खुराका च मृग इत्यपि** **(स्वनिर्मितः)**

नर ६(५)- द्र० श्लोक ४, पृ० ३४।

धर्म ५- द्र० श्लोक २, पृ० २७।

हीन ६- **त्यक्तं हीनं विधुतं समुज्झितं धूतमुत्सृष्टम्।** (अ० ३.१.१०७)

समान ७- **वाच्यलिङ्गाः समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक्॥**

साधारणः समानश्च (अ० २.१०.३६, ३७)

व्याकरणम्

सन्धिः—मैथुनम्+च=मैथुनञ्च-मोऽनुस्वारः-(८.३.२३), अनुस्वारस्य ययि० (८.४.५७)। पशुभिर्नराणाम्-इह परे खर अभावाद् रेफस्य न विसर्गः। धर्मः+हि=धर्मो हि, अधिकः+विशेषः+धर्मेण=अधिको विशेषो धर्मेणा-त्रित्रापि हशि च (६.१.११०) इत्युत्वम् ततो गुणः।

कृदन्तः—आहारः आङ्+हृञ् हरणे (भ्वा० ६४०)+घञ्-भावे (३.३.१८), अचो ञ्णिति (७.२.११५) इति वृद्धिः [आ+हार], कुगति-प्रादयः (२.२.१८)। **निद्रा** नि+द्रा कुत्सायां गतौ (अदादि० ४७)+अङ्-आतश्चोपसर्गे (३.३.१०६), आतो लोप इटि च (६.४.६४) इत्याकारस्य लोपः [नि+द्र्+अ], अजाद्यतष्टाप् (४.१.४), सोर्लोपः। **भयम्** ञिभि भये (जु० २)+अच्-अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम् (वा० ३.३.५६) [भी+अ], सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः, [भे+अ], एचोऽयवा० (६.१.७५)। **विशेषः** वि+शिष्लृ विशेषणे (रु० १४)+घञ्- भावे (३.३.१८) [वि+शिष्+अ], पुगन्तलघू० (७.३.८६)। **हीनाः** ओहाक् त्यागे (जु० ८)+क्त-निष्ठा (३.२.१०२), [हा+त], घुमास्था० (६.४.६६) इतीत्वम्, ओदितश्च (८.२.४५) इति निष्ठाया नत्वम्, जस्।

तद्धितान्तः—मैथुनम् मिथुनस्य भावः कर्म वा, मिथुन+अण्-हायनान्तयुवादिभ्योऽण् (५.१.१२९), तद्धितेष्वचामादेः (७.२.११७) इति वृद्धिः, यस्येति च (६.४.१४८)। **सामान्यम्** समानस्य भावः कर्म वा, समान+ष्यञ्- गुणवचन० (५.१.१२३), पूर्ववद् वृद्ध्यादि। **अधिकः** अध्यारूढः इत्यधिकः, अध्यारूढः+कन्-अधिकम् (५.२.७३) इति स्वार्थिकः कन् प्रत्ययः, उत्तरपदस्यारूढशब्दस्य च लोपो निपात्यते [अधि+क]।

समासः—आहारश्च निद्रा च भयञ्च मैथुनञ्चेति **आहारनिद्राभय-मैथुनम्**—चार्थे द्वन्द्वः (२.२.२९) इति समाहारद्वन्द्वः, आहारादीनां समाहारः समूह इति भावः। मानेन सह वर्तत इति **समानः** तेन सहेति तुल्ययोगे (२.२.२८) इति बहुव्रीहिः, वोपसर्जनस्य (६.३.८१) इति सहस्य सादेशः, समानं मानमस्येति वा **समानः** अनेकमन्यपदार्थे (२.२.२४) इति

बहुव्रीहिः, समानस्य० (६.३.८३) इत्यस्य योगविभागेन[१] समानस्य सादेशः।

अन्वयार्थः—नराणाम्=मनुजानाम्, आहर[२]निद्राभय[३]मैथुनम्[४]= खादनम्, शयनम्, भीतिः, सुरतम् (सन्तत्युत्पत्तिः) च, एतत्=इदं सर्वं समुदितं क्रियाकलापम्, पशुभिः[५]=पशुपक्ष्यादिभिः सह सामान्यम्= तुल्यम् भवति, परं तेषाम्=मानवमात्राणाम्, [तेषु विद्यमानः आहारादिभ्यो भिन्नः एकः] अधिकः=अध्यारूढः, अतिरिक्तः, धर्मः=विद्याविनयदया-मानवतादिः, हि=एव पशुभ्यः[६] विशेषः[७]=व्यावर्तको गुणः अस्ति। अतः ये नराः तेन धर्मेण=दयादिना हीनाः=रहिताः, शून्याः, सन्ति, ते पशुभिः= मनुष्येतर-प्राणिभिः, समानाः=सदृशाः भवन्ति। पशुकल्पा भवन्ताति यावत्।

भाषार्थः—खाना-पीना, सोना, डरना और सन्तानोत्पत्ति मनुष्यों की ये सभी क्रियाएँ पशुओं के साथ (उनकी अपेक्षा) समान ही हैं, अर्थात् ये सभी क्रियाएँ मनुष्य एवं पश्वादि में समान देखी जाती हैं। पर मनुष्यों में पश्वादि की अपेक्षा से आहारादि से भिन्न एक अधिक विशिष्ट गुण धर्म है। अतः जो मनुष्य उस विशिष्ट गुण धर्म से विहीन है, वह तो पशुओं के समान (एक पशुविशेष) ही माना जाता है।

नीतिः

आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्यः स्वर्णकोटिभिः।
स वृथा नीयते येन तस्मै नृपशवे नमः॥ १२६॥ —व्यासः॥

आयु का एक क्षण भी कोटि स्वर्ण मुद्राओं से नहीं मिल सकता।

१. समानस्येति योगविभाग इष्टप्रसिद्धयर्थः क्रियते। तेन सपक्षः, साधर्म्यम्, सजातीय इत्येवमादयः सिद्धा भवन्ति (काशिका ६.३.८४)। समानिति सम्यक्तया प्राणितीति समानो नाभिस्थो वायुविशेषः। सम्+आ+अन प्राणने (अदा० ६३)+ल्युः।
२. आहारः स्यादाहरणे भोजने च पुमानयम् (मे० २७.११४)।
३. भयं प्रतिभये घोरे प्रसूने कुब्जकस्य च (मे० २६.४१)।
४. मैथुनं रतसंगत्योः (अ०सं० ३.४२९)।
५. पशुर्मृगादिदेवाजे नाव्ययं पशु दर्शने (मे० ३०.१०)।
६. यस्माद् अधिकं० (२.३.९) इति निर्देशात् अधिकशब्दयोगे 'पशुभ्यः' इत्यत्र पञ्चमी जाता।
७. विशेषस्तु व्यक्तावयवेऽपि च, आधिक्ये (अ०सं० ३.७८५)।

वह (क्षण) जिसके द्वारा व्यर्थ बिताया गया है, उस नृपशु को नमस्कार।

मनुष्य का पहचान ही ज्ञान एवं धर्म से होता है, यदि कोई मनुष्य उन (ज्ञान एवं धर्म) के लिये प्रयत्न न करता हुआ एक क्षण भी व्यर्थ में बिताता है, तो वह अवश्य ही धिक्कारने योग्य है। अत एव कवि ने उसे कहा है कि "तस्मै नृपशवे नमः"। प्रकृत श्लोक भी कहता है कि-धर्मविहीन एवं धर्मादि के लिए जो प्रयत्न नहीं करता है वह तो पशु ही होता है।

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिति॥ १२७॥

—शा०प० १४२१॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ १२८॥

—मनु० ६.९२॥

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति। १२९॥

—तै०आ० १०.६३॥

यतः—यतोहि, कारणं यत्—



२३. धर्मार्थकाममोक्षाणं यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥

अन्वयः- यस्य धर्मार्थकाममोक्षाणाम् [मध्ये] एकः अपि न विद्यते, तस्य जन्म अजागलस्तनस्य [जन्म] इव निरर्थकं (भवति)।

कोषः

काम १२- **अथ दोहदम्।**
इच्छा कांक्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः॥
कामोऽभिलाषस्तर्षश्च (अ० १.७.२७, २८)

मोक्ष ८- **मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनिःश्रेयसामृतम्॥**

मोक्षोऽपवर्गः (अ० १.५.६.७)
अजा २- अजा छागी (अ० २.९.७६)
गल २- कण्ठो गलः (अ० २.६.८८)
स्तन २- स्तनौ कुचौ (अ० २.६.७७)
जन्म ६- जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः (अ० १.४.३०)
निरर्थकम् २- मोघं निरर्थकम् (अ० ३.१.८१)

व्याकरणम्

सन्धिः—यस्य+एकः=यस्यैकः-वृद्धिरेचि (६.१.८५)। यस्यैकः+अपि=यस्यैकोऽपि-अतो रोरप्लुतादप्लुते, आद् गुणः, एङः पदान्तादति (६.१.१०९, ८४, १०५)। ०स्तनस्य+इव=०स्तनस्येव-आद् गुणः (६.१.८४)।

कृदन्तः—कामः कमु कान्तौ (भ्वा० ३०२)+घञ्-भावे (३.३.१८), अत उपधायाः (७.२.११६) इति वृद्धिः। **मोक्षः** मोक्ष असने (का०धा०चु० १६७)+घञ् (३.३.१८)।[१] **अजा**—अज गतिक्षेपणयोः (भ्वा० १३९)+पचाद्यच् (३.१.१३४) [अज्+अ], अजाविभ्यां थ्यन् (५.१.८) इति निर्देशात् अजेर्व्यघञपोः (२.४.५६) इति वी-आदेशो न भवति, अजाद्यतष्टाप् (४.१.४) इति टाप्, ततः सोर्लोपः। **गलः** गृ निगरणे+पचाद्यच् (३.१.१३४), अचि विभाषा (८.२.२१) इति विकल्पेन लत्वम्। **स्तनः** स्तनति कथयति वक्षसौन्दर्यं यौवनं वा,ष्टन शब्दे (भ्वा० ३१२)+घ-पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३.३.११८)।

समासः—धर्मश्च अर्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति धमार्थकाममोक्षाः, तेषाम्-इतरेतरद्वन्द्वः-चार्थे द्वन्द्वः (२.२.२९), अजायाः गलः=अजागलः, अजागलस्य स्तनः=अजागलस्तनः। तस्य अजागलस्तनस्य, उभयत्रापि षष्ठीतत्पुरुषः-षष्ठी (२.२.८)। निर्गतोऽर्थो लाभो यस्मात् **तन्निरर्थकम्**-प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदस्य लोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्यः (वा० २.२.२४), शेषाद् विभाषा (५.४.१५४) इति समासान्तः कप्।

१. मुच्लृ मोक्षणे+सन्- मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा, अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७.४.५७, ५८) [मोक्ष], ततो घञ्।

अन्वयार्थः—यस्य=पुरुषस्य, धर्मार्थकाम[१]मोक्षा[२]णाम्[३]= पुरुषार्थभूतानां धर्मादीनां मध्ये एकोऽपि अन्यतमो धर्मादिः पुरुषार्थः, न=नहि, विद्यते=वर्तते, तस्य=धर्मादिहीनस्य पुंसः, जन्म=जननम्, अजागल[४]-स्तनस्य[५]=आजायाः कण्ठे लम्बायमानस्य दुग्धविहीनस्य स्तनाकारस्यावयवस्य जन्म इव=उत्पत्तिवत् निरर्थकम्=निष्फलम्।

भाषार्थः—जिस पुरुष के पास धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से कोई एक भी पुरुषार्थ नहीं है, उस पुरुषार्थहीन पुरुष का जन्म बकरी के गलस्तन के समान निष्फल है।

नीतिः

धर्महीनः पशुर्भवति, उक्तं च—

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥ १३०॥

—भर्तृ०नीति० १२॥

अर्थराहित्यं—

हे दारिद्र्य नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादतः।
पश्याम्यहं जगत्सर्वं न मां पश्यति कश्चन॥ १३१॥

—शा०प० ११५६॥

अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
क्रियाः सर्वाः विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥ १३२॥

—पं० २.९२॥

मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य॥ १३३॥

कामराहित्यं—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचिद्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥ १३४॥

—मनु० २.४॥

१. कामः स्मरेच्छयोः पुमान्। रेतस्यपि निकामे च काम्येऽपि स्यान्नपुंसकम् (मे० २५.५)।
२. मोक्षो निः श्रेयसे वृक्षविशेषे मोचने मृतौ (अ०सं० २.५७३)।
३. यतश्च निर्धारणम् (२.३.४१) इति षष्ठी। ४. गलः सर्जरसे कण्ठे (मे० २८.१३)।
५. 'तत्सदृशात् ताच्छब्द्यम्' इति नियमेन स्तनसदृशेऽस्तने स्तनशब्दः प्रयुक्तः।

मोक्षराहित्यं—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,

न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः। १३५॥ —केनोप० २.५॥

यच्चोच्यते= कैश्चित् पुरुषार्थहीनैरुच्यते यद्—

कुछ पुरुषार्थहीन लोगों का कहना है कि—



२४. आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

अन्वयः—आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनम् एव च, एतानि पञ्च अपि देहिनः गर्भस्थस्य (अवस्थायाम्) एव सृज्यन्ते।

कोषः

आयुस् २- **आयुर्जीवितकालः** (अ० २.८.१२०)।

कर्म २- **कर्म क्रिया** (अ० ३.२.१)।

निधन १०- **स्यात् पञ्चता कालधर्मो दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः।**
अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनोऽस्त्रियाम्॥
(अ० २.८.११६)

गर्भस्थ, गर्भ २- **गर्भो भ्रूण इमौ समौ** (अ० २.६.३९)

देह १२- **अथ कलेवरम्।**
गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः॥
कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्त्तिस्तनुस्तनूः॥
(अ० २.६.७०, ७१)

सृजति ९- **सृजत्युत्पादयत्यपि।**
निर्मिमीते भावयति निर्माति रचयत्यपि।
निष्पादयति निर्वर्तयति साधयतीति च॥ (आ०च०- २.१.३)

व्याकरणम्

सन्धिः—वित्तम्+च=**वित्तञ्च**-मोऽनुस्वारः (८.३.२३) इति मस्यानुस्वारः, तस्य च अनुस्वारस्य ययि० (८.४.५७) इति परसवर्णः।

पञ्च+एतानि=**पञ्चैतानि,** वृद्धिरेचि (६.१.८५) इति वृद्धिरेकादेशः। पञ्चैतानि+अपि=**पञ्चैतान्यपि**-इको यणचि (६.१.७४) इति यणादेशः। गर्भस्थस्य+एव=**गर्भस्थस्यैव।**

कृदन्तः—वित्तम् विद्लृ लाभे (तु० १४१)+क्तः-निष्ठा (३.२.१०२) [विद्+त], एकाच उपदेशे० (७.२.१०) इति इटो निषेधः, क्ङिति च (१.१.५) इति पुगन्तलघूपधस्य च (७.३.८६) प्राप्तस्य गुणस्य निषेधः, रदाभ्यां० (८.२.४२) इत्यनेन प्राप्तं नत्वं 'वित्तं भोगप्रत्यययोः' (८.२.५८) इति निपातनेन न भवति। **गर्भस्थस्य**—गर्भे तिष्ठतीति गर्भस्थः, गर्भ ङि+ष्ठा गतिनिवृत्तौ (भ्वा० ६६२)+कः- सुपि स्थः (३.२.४) इति कः प्रत्ययः [गर्भ ङि+स्था+अ], आतोलोप इटि च (६.४.६४) इति आकारस्य लोपः [गर्भ ङि+स्थ], कुगतिप्रादयः (२.२.१८) इति तत्पुरुषसमासः, तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३.१.९२) इत्युपपदत्वात्, सुपो धातु प्राति० (२.४.७१) इति ङेर्लोपः, ततः ङस्, तस्य च स्थाने स्यादेशः। **देहः** देग्धि वर्तते प्रतिदिनमिति देहः, दिह उपचये (अदा० ५)+पचाद्यच् (३.१.१३४) [दिह्+अ], पुगन्तल० (७.३.८६) इति गुणः।

तद्धितान्तः—देहिनः देहोऽस्यास्तीति देही, अत इनिठनौ (५.२. ११५) इतीनिः [देह+इन्], यस्येति च (६.४.१४८) [दिहिन्+ङस् (अस्)=देहिनः]।

तिङन्तः—सृज्यन्ते=सृज विसर्गे (दि० ६७, तु० १२४)+यक्+झ-भावकर्मणोः (१.३.१३) इति तङ्, सार्वधातुके यक् (३.१.६७), झोऽन्तः (७.१.३), [सृज्+य+अन्त], पुगन्तल० (७.३.८६) इति प्राप्तस्य गुणस्य क्ङिति च (१.१.५) इति निषेधः, टित आत्मने० (३.४.७९), अतो गुणे (६.१.९४) इति पररूपैकादेशः [सृज्यन्ते]।

अन्वयार्थः—[कैश्चिदेवमुच्यते-] आयुः[1]=जन्मनः प्रभृति मरणं

१. पिपीलिकामण्डूककच्छपहस्तिमनुष्यादीनाम् आयुः भिन्नं-भिन्नं भवति, तच्च ब्रह्मणा निर्णीतं भवतीति यावत्। न च मृत्युकालो निश्चितः, अकालमृत्युदर्शनात्। तथैव भोग्यविषयेऽप्यवगन्तव्यं यत् पिपीलिकादीनामाहारादिभोग्यभिन्नत्वमपि स्रष्ट्रा निश्चयीकृतं भवति।

यावज्जीवनकालः, वयः इत्यर्थः, कर्म[१]=प्राप्तशरीरयोग्यं कर्म[२], वित्तम्[३]= आहारधनधान्यादिभोग्यम्, विद्या=ज्ञानप्राप्तिसामर्थ्यम्, निधनम्[४]=मृत्युः[५] च, एतानि=पूर्वोक्तानि आयुः आदीनि, पञ्च=पञ्चसंख्याकानि अपि, देहिनः=प्राणिनः, शरीरधारिणः, गर्भ[६]स्थस्य=कुक्षिस्थस्य भ्रूणस्य अवस्था-याम् एव=हि, सृज्यन्ते=उत्पाद्यन्ते, निर्धार्यन्ते, स्रष्ट्रेति शेषः।

भाषार्थः—[कुछ लोगों का कहना है कि-] आयु, कर्म, धन, विद्या और निधन ये पांचों भी शरीरधारियों की गर्भावस्था में स्थित (होने) के (समय में) ही सृष्टिकर्ता के द्वारा निर्धारित किये जाते हैं।

किञ्च=ततोऽन्यद् वदन्ति त एवालसाः—

वे पुरुषार्थहीन आलसी लोग और आगे कहते हैं कि—



२५. यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥

अन्वयः—यत् अभावि (भवति) तद् भावि न [भवति], यतः भावि चेत् तद् अन्यथा न [भवति] इति चिन्ताविषघ्नः अयं अगदः किं न पीयते [जनैः]।

कोषः

चिन्ता ३- **स्याच्चिन्ता स्मृतिराध्यानम्** (अ० १.७.२९)

विष ३- **क्ष्वेडस्तु गरलं विषम्** (अ० १.८.९)

१. कर्म कारकभेदे स्यात् क्रियायां च शुभाशुभे। (अ०सं० २.२६३)

२. गावश्वहस्तिमनुष्यादीनां शरीराणां कर्म सामर्थ्यञ्च भिन्नं-भिन्नं भवति, तच्च विधात्रा निर्धारितं भवतीति भावः। न च नृणां शुभाशुभं कर्म, तथा हि सति जीवस्य स्वातन्त्र्यमपगच्छेत्।

३. वित्तं विचारिते ख्याते धने (अ०सं० २.१९९)।

४. निधनं कुलनाशयोः (अ०सं० ३.४१४)।

५. पूर्वजन्मकर्मानुगुणो मरणकालः (आयुः) सामान्यतया निश्चितो भवेत्, परं न स सुदृढनिश्चयः, ब्रह्मचर्यादिव्रतैर्वर्धितत्वेन दृश्यमानत्वात्।

६. गर्भः कुक्षौ शिशौ सन्धौ भ्रूणे पनसकण्टके॥ मध्येऽग्रावपवरके (अ०सं० २.३११, ३१२)

अगद ५- **भेषजौषधभैषज्यान्यगदो जायुरित्यपि** (अ० २.६.५०)।

पीयते (पा) ५- **पिबत्याचामति धयत्यपि चूषति पीयते।** (आ०च० २.१.२४)

व्याकरणम्

सन्धिः—चेत्+न=चेन्न-यरोऽनुनासिके० (८.४.४४)। ०विषघ्नः+ अयम्=विषघ्नोऽयम्-अतोऽरोर० (६.१.१०९) इत्युत्वम्, आद्गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः, एङः पदान्तादति (६.१.१०५) इति पूर्व-रूपैकादेशः।

कृदन्तः—भविष्यतीति **भावि** भू+णिनि-आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः (३.३.१७०), अचो ञ्णिति (७.२.११५) इति वृद्धिः [भौ+इन्], एचोऽय० (६.१.७५) इत्यावादेशः [भाविन्], ततः सुः, तस्य च स्वमोर्नपुंसकात् (७.१.२३) इति लोपः, नलोप प्राति० (८.२.७) इति नस्य लोपः। **चिन्ता** चिति स्मृत्याम् (चु० २)+अङ्-चिन्तिपूजि० (३.३.१०५), इदितो नुम्० (७.१.५८) [चिन्त्+अ], अजाद्यतष्टाप् (४.१.४), ततस्सुः, तस्य च हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्... हल्ङ्यादिना (६.१.६८) लोपः। **विषम्** वेवेष्टि शरीरमिति विषम्, विष्लृ व्याप्तौ (जु० १३)+इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३.१.१३५), पुगन्तल० (७.३.८६) इति प्राप्तो गुणः क्ङिति च (१.१.५) इति निषिद्धः, ततस्सुः, तस्य च स्थाने अतोऽम् (७.१.२४) इत्यमादेशः [विष+अम्], पूर्वरूपैकादेशः- अमि पूर्वः (६.१.१०३)। **चिन्ताविषघ्नः** चिन्ताविषं हन्तीति चिन्ताविषघ्नः, चिन्ताविष ङस् हन्+क घञर्थे कविधानम् स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम् (वा० ३.३.५८), उपपदमतिङ् (२.२.१९) इति समासः, सुपो धातु० (२.४.७१) इत्यमो लुक् [चिन्ताविष हन् अ], गमहनजन० (६.४.९८) इत्युपधाया लोपः [०विषह्न् अ], हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७.३.५४) इति हस्य कुत्वम् [चिन्ताविषघ्न]। **अगदः** अगद नीरोगत्वे (कण्व० ३६)+पचाद्यच् अथवा गदधातोः अचि गदः [अत्र गदधातुः रोगार्थे- अनेकार्था धातव इति नियमात्][१], ततो नञ्समासः।

१. गदधातोः रोगार्थप्रयोगे अगदशब्द एव मानम्।

तद्धितान्तः—अन्यथा अन्य+थाल्- प्रकारवचने थाल् (५.३.२३) तद्धितश्चा० (१.१.३७) इत्यव्ययत्वाद् अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) इति सोर्लुक्।

समासः—चिन्ताविषघ्नः=चिन्ता एव विषम् इति चिन्ताविषम्-

अन्वयार्थः—यत्=किमपि शुभाशुभम्, सुखदुःखादि वा, अभावि= भविष्यत् काले असम्भवि [भवति], भवितुमनर्हमिति यावत्, तद्= पूर्वोक्तम् भावि=भवितुमर्हम्, न=नहि [भवति], न भविष्यत्येवेति भावः। [यत्=पूर्वोक्तम्], भावि=भुवितुमर्हम् एव अस्ति, भवितव्यमेवास्ति चेत्= तर्हि, तद् अन्यथा=अन्यप्रकारेण, विपरीतं वा न [भवति], इति=हेतोः, तस्मात्, चिन्ताविष[1]घ्नः=चिन्तारूपविषापहारकः, अयम्=ज्ञानरूपः अगदः[2]=औषधम्, किम्=किमर्थम् कुतः, न=नहि, पीयते=सेव्यते, जनैः। यद् न भावि तन्न कदाचिदपि भविष्यति, यच्च भावि तदवश्यं भविष्यत्येव, सर्वं दैवाधीनमेव, तत्र किं वृथाचिन्तयाऽयासेन चेति यावत्।

भाषार्थः—जो कुछ शुभाशुभ अथवा सुख-दुःखादि प्राप्त न होने वाले हैं, वे कभी भी प्राप्त नहीं होंगे और जो प्राप्त होने वाले हैं, वे अवश्य ही प्राप्त होंगे अर्थात् वे कभी टल नहीं सकते। इसलिए (=प्राप्तव्य दैवाधीन होने से) चिन्तारूपी विष को नष्ट करने वाले इस भाग्यविषयक ज्ञानरूपी औषध का सेवन क्यों नहीं किया जाता है? अर्थात् व्यक्ति को सब कुछ भाग्याधीन छोड़कर चिन्तामुक्त रहना चाहिए।

एतत्कार्याऽक्षमाणां केषाञ्चिदालस्यवचनम्।

कोषः

आलस्य ६- **मन्दस्तुन्दपरिमृज आलस्यः शीतकोऽलसोऽनुष्णः** (अ० २.१०.१८)।

वचन ६- **व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः** (अ० १.६.१)।

१. विषं जलेऽतिविषायां स्त्रियां क्ष्वेडे तु न स्त्रियाम्। (मे० ३१.२५)

२. गदः कृष्णानुजे रोगे गदा प्रहरणान्तरे (=आयुधे)। (अ०सं० २.२२८)

व्याकरणम्

सन्धिः—कार्य+अक्षमाणाम्=कार्याक्षमाणाम्-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७)। केषाम्+चिद्=केषाञ्चिद्- मोऽनुस्वारः (८.३.२३) इति मस्यानुस्वारः, तस्य च वा पदान्तस्य (८.४.५८) इति परसवर्णः।

कृदन्तः—कार्यम् डुकृञ् करणे (तनादि० १०)+ण्यत्-ऋहलोर्ण्यत् (३.१.१२४) [कृ+य], अचो ञ्णिति (७.२.११५) इति वृद्धिः, सा च उरण् रपरः (१.१.५०) इति रपरा भवति [कार्+य-कार्य]। **अक्षमः**—न क्षमत इति अक्षमः, क्षमूष् सहने (भ्वा० ३०१)+पचाद्यच् (३.१.१३४)। **अलसः**—न लसति व्याप्रियते इत्यलसः, लस श्लेषणक्रीडनयोः (भ्वा० ४७३)+पचाद्यच्। **वचनम्**—वच परिभाषणे (अदा० ५६)+ल्युट्-ल्युट् च (३.३.११५), युवोरनाकौ (७.१.१)।

तद्धितान्तः—अलसस्य भावः कर्म वा **आलस्यम्**-अलस+ ष्यञ्- गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः० (५.१.१२३), तद्धितेष्वचामादेः (७.२.११७) इति वृद्धिः (आलस्य+य), यस्येति च (६.४.१४८)।

समासः—अक्षमाः, अलसाः इत्युभयत्र नञ्तत्पुरुषः। आलस्य- जनितं वचनम्-**आलस्यवचनम्**।

अन्वयार्थः—एतत्=‘आयु कर्म च वित्तञ्च’ इत्यारभ्य ‘यदभावि न तद् भवति’ इति यावत् निगदितमेतत् सर्वं केषाञ्चिद्= केषाञ्चन, कार्याक्षमा[1]णाम्=अवश्यकर्तव्येषु अप्रवृत्तशीलानां जनानाम्, आलस्य- वचनम्=आलस्यनिबन्धनं वचनम्।

भाषार्थः—उपरोक्त श्लोकों में जो कहा गया है, वह सब किन्हीं अकर्मण्य अर्थात् कर्तव्य कर्मों को भी न करने वाले अनार्यों[2] के प्रमादजन्य कथन हैं। अतः वह कदापि मान्य वा स्वीकार्य नहीं हो सकता। इसलिए इस आलसीपन को त्याग कर उत्साह से कर्तव्य कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए।

१. क्षमा भूमौ तितिक्षायां स्त्रियां युक्ते नपुंसकम्। वाच्यवत् शक्तहितयोः (मेदनी० २५.४, ५)

२. अकर्मा दस्युः (ऋ० १०.२२.८)।

नीतिः

उत्क्राम महते सौभगाय॥ १३६ ॥ —यजु० ११.२१॥

महान् सौभाग्य के लिए (उत्क्राम) उठो, प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो। आलसीपन में मत रहो।



२६. न दैवमति सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्योगेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति॥

अन्वयः—[जनः] दैवं [यत् करिष्यति तदेव भविष्यति] इति सञ्चिन्त्य आत्मनः उद्योगं न त्यजेत्। [यतः, कोऽपि जनः] अनुद्योगेन तिलेभ्यः तैलानि आप्तुं न अर्हति।

कोषः

दैव ६- **दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः** (अ० १.४.२८)।
आत्मन् ३- **क्षेत्रज्ञः आत्मा पुरुषः** (अ० १.४.२९)।
तैल ३- **म्रक्षणाभ्यञ्जने तैलम्** (अ० परि० ३१)।
त्यज् १७- **रहति त्यजति त्यागे जहात्युज्झति बुस्यति।**
विसृजत्युत्सृजति च मुञ्चते मुञ्चतीति च॥
विष्यत्यवस्यति रहयति मोक्षयतीत्यपि।
मोचयत्यूनयति चोत्सृज्यते हापयत्यमी॥ (आ०च० २.१.३९)
आप् ७- द्र० श्लोकः ५, पृ० ३७।
अर्ह (अर्हत्यर्थे) १३- **पर्याप्नोति तु शक्नोति क्षमते प्रभवत्यपि।**
प्रोथत्यलत्यात्मनेऽपि द्वौ पारयति कल्पते॥
राघते लाघते शक्तौ स्फुरते विभवत्यपि।
[अर्हति] आ०च० २.३.६२।

व्याकरणम्

सन्धिः—सम्+चिन्त्य=सञ्चिन्त्य मोऽनुस्वारः, वा पदान्तस्य। तिलेभ्यः+न=तिलेभ्यो न-हशि च (६.१.११०) इत्युत्वम्, आद् गुणः (६.१.८४) गुणैकादेशः। न+आप्तुम्=नाप्तुम्-अकः सवर्णे दीर्घः।

कृदन्तः—**देव** दिवु क्रीडा० (दिवादि० १)+पचाद्यच्, पुगन्तलघू० इति गुणः। **सञ्चिन्त्य** सम्+चिति स्मृत्याम् (चुरादि० २)+क्त्वा-समान कर्तृकयोः पूर्वकाले (३.४.२१), इदितो नुम् धातोः (७.१.५८) [सम्+चिन्त्+त्वा], कुगतिप्रादयः (२.२.१८) इति समासः, समासेऽनञ् पूर्व क्त्वो ल्यप् (७.१.३७) [सम्+चिन्त्य], स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१.१.५५) इति स्थानिवत्वेन ल्यपः कृत्संज्ञा अव्यय संज्ञा च, तेन स्वाद्युत्पत्तिः, ततः तस्य लोपः। **उद्योगः** उद्+युजिर् योगे (रुधादि० ७)+घञ्-भावे (३.३.१८), पुगन्तः० इति गुणः, चजोः कु० (७.३.५२) इति कुत्वम्। **आप्तुम्** आप्लृ व्याप्तौ (स्वादि० १५)+तुमुन्-समानकर्तृकेषु तुमुन् (३.३.१५८), कृन्मेजन्तः (१.१.३८) इत्यव्ययत्वम्, तेन सोर्लुक्।

तद्धितान्तः—**दैवम्**=देवादागतम् इति दैवम्, देव ङसि+अण्-ततः आगतः (४.३.७४), तद्धितेष्वचामादेः (७.२.११७) इति वृद्धिः। **तैलम्** तिलानां तत्सदृशानां वा विकारः तैलम्, तिल+आम्+अण्- तस्य विकारः (४.३.१३२), तानि तैलानि।

समासः—**अनुद्योगेन**=न उद्योग अनुद्योगः, नञ्तत्पुरुषः-नञ् (२.२.६), नलोपो नञः (६.३.७२) [अ+उद्योग], तस्मान्नुडचि (६.३.७३) इति नुडागमः [अ+नुद्योग], ततः टा-विभक्तिः, तस्याश्च स्थाने टाङसिङसाम्० (७.१.१२) इतीनादेशः [अनुद्योग+इन], आद् गुणः (६.१.८४) इति गुणैकादेशः।

अन्वयार्थः—(अभ्युदयाभिलाषी जनः) दैवम्=भाग्यम् (यत् करिष्यति, तदेव भविष्यति, अहं किं विधास्यामि) इति=एवम्, सञ्चिन्त्य=विभाव्य, विचार्य, आत्मनः[१]=स्वस्य, उद्योगम्=प्रयत्नम्, व्यापारम् न=नहि, त्यजेत्=जह्यात्, मुञ्चेत्। (यतः कोऽपि जनः) अनुद्योगेन=प्रयत्नेन विना, आलस्येन, तिलेभ्यः=सम्मुखे विद्यमानेभ्यः तैलपूर्णेभ्योऽपि तन्नामधान्येभ्यः, तैलानि=स्नेहानि आप्तुम्= लब्धुम्, न अर्हति=न शक्नोति। उद्योगेन विना तैलपूर्णेभ्यस्तिलेभ्यः तैलमेव न लभ्यते चेत् कथं आभ्युदयिकं सुखादिकं विन्देत, अतः दैवं विहाय उद्योगोऽवश्यं कर्तव्य इति यावत्।

१. आत्मा- द्र० पृ० ६६

भाषार्थः—'भाग्य में जो कुछ लिखा हुआ है वही होगा, मेरे प्रयत्न से नहीं' ऐसा विचार कर अभ्युदय चाहने वाले धीर पुरुष को अपना प्रयत्न त्यागना नहीं चाहिए। क्योंकि विना प्रयत्न के कोई भी व्यक्ति तेल से परिपूर्ण तिलों से तेल प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए भाग्य की आशा को छोड़कर धीर मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए उद्योग (यत्न) करना चाहिए।

नीतिः

यथा तैलक्षयाद् दीपः प्रह्रासमुपगच्छति।
तथा कर्मक्षयाद् दैवं प्रह्रासमुपगच्छति॥ १३७॥

—म०भा०अनु० ६.४४॥

व्रजत्यध प्रयात्युच्चैर्नरः स्वैरेव चेष्टितैः।
अधः कूपस्य खनक ऊर्ध्वं प्रासादकारकः॥ १३८॥
दुर्लभान्यपि कार्याणि सिध्यन्ति प्रोद्यमेन हि।
शिलापि तनुतां याति प्रपातेनार्णसो मुहुः॥ १३९॥

—बु०च० २६.६३॥



२७. यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥

अन्वयः—यथा हि एकेन चक्रेण रथस्य गतिः न भवेत् एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति।

कोषः

एक ३- द्र० श्लोकः १०, पृ० ५९।
चक्र २- **चक्रं रथाङ्गम्** (अ० २.८.५६)।
रथ ३- **याने चक्रिणि युद्धार्थे शताङ्गः स्यन्दनो रथः** (अ० २.८.५१)।
सिध्यति ८- **निर्वर्तते सम्भवति सिद्धौ सिध्यति राध्यति।**
निष्पद्यते च राध्नोति साध्नोति फलतीति च॥
(आ०च० १.१.३)

व्याकरणम्

सन्धिः—हि+एकेन=ह्येकेन-इको यणचि (६.१.७४)।

कृदन्तः—गतिः गम्लृ गतौ (भ्वा० ७०९)+क्तिन्-स्त्रियां क्तिन् (३.३.९४) [गम्+ति], अनुदात्तोपदेशवनति० (६.४.३७) इति मकारस्य लोपः। (पुरुष) **कार**- डुकृञ् करणे (तनादि० १०)+घञ्-भावे (३.३.१८), अचो ञ्णिति (७.२.११५) इति वृद्धिः, उरण् रपरः (१.१.५०)।

तद्धितान्तः—यथा यद्+थाल्- प्रकारवचने थाल् (५.३.२३), अस्य च प्राग्दिशो विभक्तिः (५.३.१) इति विभक्तित्वात् तस्याम् त्यदादीनामः (७.२.१०२), [य अ था], अतो गुणे [यथा], तद्धितश्चा० इत्यव्ययत्वात् अव्ययादाप्सुपः इति सोर्लुक्। **विना** वि+ना-विनञ्भ्यां नानाञौ न सह (५.२.२७), पूर्ववदव्ययत्वात् सोर्लुक्।

समासः—पुरुषस्य कारः कृतिरिति पुरुषकारः-षष्ठी (२.२.८) इति षष्ठीतत्पुरुषः।

अन्वयार्थः—यथा[१]=यद्वत् हि[२]=निश्चयेन एकेन[३]=एकाकिना चक्रेण[४]=रथाङ्गेन, रथस्य[५]=स्यन्दनस्य, गतिः[६]=गमनम्, न भवेत्=न स्यात्, एवं=तद्वत् पुरुषकारेण=मानवचेष्टया, विना=ऋते, दैवम्=अदृष्टम्, न सिध्यति=न फलति।

भाषार्थः—जैसे कि एक चक्र (पहिए) से रथ की गति नहीं होती, (अपितु दो चक्रों से ही होती है), वैसे ही पुरुषार्थ के विना भाग्य

---

१. यथा तुल्यार्थमानयोः (मे० अव्यय० ३६)।
२. हि पादपूरणे हेतौ विशेषऽप्यवधारणे।
प्रश्ने हेत्वपदेशे च सम्भ्रमासूययोरपि। (मे० अव्यय० ८६, ८७)।
३. एकोऽन्यः केवलः श्रेष्ठः संख्या (हैमः २.२)।
४. चक्रः कोके पुमान् क्लीबं वज्रं सैन्यरथाङ्गयोः॥
राष्ट्रे दम्भान्तरे कुम्भकारोपकरणास्त्रयोः। जलावर्त्तेऽपि (मे० २७, ३१, ३२)
५. रथः पुमानवयवे स्यन्दने वेतसेऽपि च (मे० १७.१२)।
६. गतिः स्त्री मार्गदशयोर्ज्ञाने यात्राऽभ्युपाययोः (मे० १६.१४)।

कोई फल सिद्ध नहीं करता। अर्थात् अदृष्टरूपी एक चक्र से जीवन रूपी रथ में कोई गति नहीं होती, अपितु पुरुषार्थ रूपी द्वितीय चक्र के होने पर ही उस में गति होती है, लक्ष्य सिद्ध होता है।

नीतिः

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥ १४०॥
क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् ततः सस्यं समृध्यते॥ १४१॥

—म०भा०अनु० ६.७, ८॥

विहाय पौरुषं यो हि दैवमेवावलम्बते।
प्रासादसिंहवत् तस्य मूर्ध्नि तिष्ठन्ति वायसाः॥ १४२॥
कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा।
अहोरात्रे विदधत् कर्मणैव अतन्द्रितो नित्यमुदेति सूर्यः॥ १४३॥

—म०भा०उद्यो० २९.९॥

तथा च=दैवविषय उक्तं यद्—
उसी प्रकार भाग्य के विषय में यह कहा गया है कि—



२८. पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।
तस्मात् पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः॥

अन्वयः—पूर्वजन्मकृतं (यत्) कर्म (भवति) तद् (एवास्मिन् जन्मनि) दैवम् (भवति) इति (विद्वद्भिः) कथ्यते, तस्मात् (जनः) अतन्द्रितः (सन्) पुरुषकारेण यत्नं कुर्यात्।

कोषः

पूर्व ५-	**पुंस्यादिः पूर्वपौरस्त्यप्रथमाद्याः** (अ० ३.१.८०)
जन्मन् ६-	द्र० श्लोकः २३, पृ० ११०।
कर्म २-	द्र० श्लोकः २४, पृ० ११२।

डुकृञ् ५-	द्र० श्लोकः २०, पृ० ९८।
कथ २३-	द्र० **ब्रू,** श्लोकः ३, पृ० ३१।

व्याकरणम्

कृदन्तः—पूर्वः पुर्व पूरणे (भ्वा० ३८५)+अच्-पचाद्यच्, 'उपधायां च' इति दीर्घः। **कृतम्** डुकृञ् करणे+क्त-निष्ठा। **यत्नः** यती प्रयत्ने (भ्वा० २५)+नङ्-यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्। **तन्द्रा** तद्+द्रा कुत्सायां गतौ (अदादि० ४७)+कः-आतोऽनुपसर्गे कः, 'आतो लोप इटि च' इत्याकारस्य लोपः [तद्+द्र्+अ], ततष्टाप् 'तदो नकारान्तता निपात्यते' (द्र० काशिका ३.२.१५८)।

तद्धितान्तः—तन्द्रितः तन्द्रा जाता अस्येति, तन्द्रा+इतच्- तदस्य संज्ञातं तारकादिभ्यः इतच् (५.२.३६), यस्येति च इत्याकारस्य लोपः।

समासः—पूर्वं च तद् जन्म च पूर्वजन्म-कर्मधारयः, पूर्वजन्मनि कृतम् इति पूर्वजन्मकृतम्-सप्तमीतत्पुरुषः, न तन्द्रितः अतन्द्रितः-'नञ्' इति नञ्तत्पुरुषः।

तिङन्तः—कथ्यते द्र. श्लोक ७ (पृ० ४५)। **कुर्यात्** कृ+उ+लिङ्-कर्+उ+तिप्, अत उत् सार्वधातुके (६.४.११०) कुर्+उ+यासुट्+त्, ये च (६.४.१०९) इति उप्रत्ययस्य लोपः, कुर्+यास्+सुट्+त्=कुर्यात्-लिङः सलोपः० इति उभयो सकारयोर्लोपः।

अन्वयार्थः—पूर्व[१]जन्मकृतम्=पूर्वस्मिन् जन्मनि आचरितम् (यत्) कर्म[२]=धर्माधर्मात्मकफलदा क्रिया (भवति), तद्=तदेव कर्म [अस्मिन् जन्मनि] दैवम्=दैवपदवाच्यं (भवति), तदेव प्रारब्धं भाग्यमिति वा भवति, इति= एवं (विद्वद्भिः) कथ्यते=निगद्यते, तस्मात्=दैवमपि कर्मोद्भवात् कर्माधीनत्वाद्वा (जनः) अतन्द्रितः=अनलसः (सन्), आलस्यं विहाय इति भावः, पुरुषकारेण=पुरुषप्रयत्नेन, पुरुषप्रयत्नमवलम्ब्य, यत्नम्= सर्वेषु कर्तव्यकार्येषु उद्योगम्, कुर्यात्=विदध्यात्। तदेव कर्म भाविनि जन्मनि भाग्यविधातृ भवतीति यावत्।

---

१. पूर्वं तु पूर्वजे। प्रागग्रे श्रुतिभेदे च (हैमः० २.५३५-५३६)।
२. द्र० श्लोकः २४, पृ० ११३।

भाषार्थः—पूर्व जन्म में किया गया जो शुभाशुभ कर्म होता है, वही अग्रिम जन्म में दैव, भाग्य कहलाता है अर्थात् वही कर्म भावी जन्म का भाग्य विधाता बनता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। भाग्य भी कर्म के अधीन होने से कर्म ही प्रधान और सेवनीय है, अतः मनुष्य को भाग्य की आशा त्याग कर उत्साह एवं धैर्य से कर्म करते रहने चाहिए।

नीतिः

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः॥ १४४॥

—यजु० ४०.२॥

दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्॥ १४५॥

—वेणी० ३.३७॥

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते।
कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता॥ १४६॥

—म०भा०वन० २६१.३५॥

न कर्मणां विप्रणाशोऽस्त्यमुत्र पुण्यानां वाप्यथवा पापकानाम्।
पूर्वं कर्तुर्गच्छति पुण्यपापं पश्चात्त्वेनमनुयात्येव कर्त्ता॥ १४७॥

—म०भा०उद्यो० २७.१०॥

वीरः सुधीः सुविद्यश्च पुरुषः पुरुषार्थवान्।
तदन्ये पुरुषाकाराः पशवः पुच्छवर्जिताः॥ १४८॥

—पु०प० १.४॥

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च,
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म।
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च,
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति॥ १४९॥ —पं० २.२०॥



अन्यच्च—

२९. उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी
'दैवेन देय' मिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥

अन्वयः—लक्ष्मीः उद्योगिनं पुरुषसिंहम् उपैति, 'दैवेन देयम्' इति (तु) कापुरुषाः वदन्ति। (अतः हे सत्पुरुष!) दैवं निहत्य आत्मशक्त्या पौरुषं कुरु, यत्ने कृते (अपि) यदि (कार्यं) न सिध्यति (चेत्, तदा) अत्र कः दोषः (इति चिन्तनीयम्)।

कोषः

उद्योग ४- **उद्योगोद्यमचेष्टाश्च गुरणं गोरणं तथा।**
यत्न उत्साहस्तथा (स्वीयः)
पुरुष ११- द्र० **नरः**, श्लोक ४. पृ० ३४।
सिंह १४- **सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः।**
कण्ठीरवो मृगरिपुर्मृगदृष्टिर्मृगाशनः॥
पुण्डरीकः पञ्चनखचित्रकायमृगद्विषः। (अ० २.५.१)।
लक्ष्मी ४- **अथ सम्पदि। सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च** (अ० २.८.८२)।
आत्मन् ३- द्र० श्लोक २६, पृ० ११८।
शक्ति १०- **द्रविणं तरः सहोबलशौर्याणि स्थाम शुष्मं च।**
शक्तिः पराक्रमप्राणौ (अ० २.८.१०२)।
उप+एति १२- **प्रतिष्ठतेऽञ्चत्ययते व्रजत्ययति गच्छति।**
ऋणोत्यटति यात्येति सरतीयर्त्ति क्रामति॥
(आ०च० २.३.३२)

व्याकरणम्

सन्धिः—उप+एति=उपैति-एत्येधत्यूट्सु (६.१.८६) इति वृद्धिरेकादेशः। कापुरुषाः+वदन्ति=कापुरुषा वदन्ति-भोभगो० इति यकारादेशः, तस्य च यस्य 'लोपः शाकल्यस्य' इति लोपः। कः+अत्र=कोऽत्र-'अतो

रोर०' इत्युत्वम्, 'आद् गुणः' इति गुणैकादेशः, 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपैकादेशः।

कृदन्तः—उद्योगः उद्+युजिर् योगे (रु० ७)+घञ्-भावे, चजोः कुः० इति कुत्वम्। **सिंहः** हिसि (हिंस्) हिंसायाम् (रु० १८)+पचाद्यच् (३.१.१३४), पृषोदरादित्वात् (६.३.१०८) वर्णविपर्ययः [सिंह्+अ]। **देयम्** डुदाञ् दाने+अचो यत् [दा+य], ईद्यति इतीत्वम् [दी+य], सार्वधातुकार्ध० इति गुणः। **निहत्य** नि+हन्+क्त्वा- समानकर्तृकयोः पूर्वकाले, समासेऽनञ्० इति क्त्वो ल्यप्, 'अनुदात्तोपदेशवनति०' इति नस्य लोपः। **शक्त्या** शक्लृ शक्तौ (स्वा० १६)+स्त्रियां क्तिन्+टा [शक्+ति+आ], यणादेशः। **यत्ने** यती प्रयत्ने+नङ्-यजयाच०+ङि [यत्+न+इ], आद् गुणः। **कृते** डुकृञ् करणे+'निष्ठा' इति क्तः, कित्वाद् गुणाभावः, एकाच उपदेशे० इतीटो निषेधः, सप्तम्यां पूर्ववद्गुणः। **दोषः** दुष वैकृत्ये (दि० ७४)+घञ्-भावे।

तद्धितान्तः—उद्योगिनम् उद्योगोऽस्यास्तीति उद्योगी, तम् उद्योगिनम्, उद्योग+इन्-अत इनिठनौ, यस्येति च इत्यकारस्य लोपः, ततोऽम्। **पौरुषम्**—पुरुषस्यभावः कर्म वा इत्यर्थेऽण्-हायनान्तयुवादिभ्योऽण् (५.१.१२९) अत्रैव गणसूत्रम्- 'पुरुषासे'=पुरुषशब्दादसमासेऽण् इत्यर्थः, तद्धितेष्व० इति वृद्धिः। तस्येदमिति वाण्।

समासः—पुरुष सिंह इव पुरुषसिंहः, तम् **पुरुषसिंहम्**-उपमितं व्याघ्रादिभिः० (२.१.५५) इति तत्पुरुषः। कुत्सिताः पुरुषाः **कापुरुषाः**—[कु+पुरुष] कुगतिप्रादयः इति तत्पुरुषः, विभाषा पुरुषे (६.३.१०५) इति वा कोः का-आदेशः। आत्मनः शक्तिः **आत्मशक्तिः,** तया तथोक्तम्- षष्ठीतत्पुरुषः।

तिङन्तः—उपैति उप+इण् गतौ+शप्+तिप् (लट्)-अदिप्रभृतिभ्यः० इति शपो लुक् [उप+इ+ति], सार्वधातुकार्ध० इति गुणः। **सिध्यति** षिधु संराद्धौ (दि० ८१), 'धात्वादेः षः सः' इति सत्वम्, सिध्+श्यन्+तिप् (लट्)-'दिवादिभ्यः श्यन्' [सिध्+य+ति], पुगन्तलघू० इति गुणः प्राप्तः परं 'सार्वधातुकमपित्' इति श्यनो ङित्वाद् 'क्ङिति च' इति स प्रतिषिद्धः। **कुरु** डुकृञ् करणे+सिप् (लोट्), तनादिकृञ्भ्यः उः, तस्मिंश्च परतः

सार्वधातुकार्ध० इति गुणः [कर्+उ+सि], अत उत् सार्वधातुके० इत्युत्वम्, सेर्ह्यपिच्च [कुरु+हि], उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (६.४.१०६) इति हेर्लोपः।

अन्वयार्थः—लक्ष्मीः[1]=सम्पत्तिः सफलता वा, उद्योगिनम्= पुरुषार्थिनम्, प्रयत्नवन्तम् पुरुष[2]सिंहम्[3]=सिंह इव विक्रमशालिनम् नरश्रेष्ठम् (एव) उपैति=उपगच्छति प्राप्नोति। "दैवेन=भाग्येन (एव सर्वं सुखादिकं) देयम्=सम्पादनीयम्" इति=इत्थम् (तु) कापुरुषाः=उद्योगहीना मनुष्याः (एव) वदन्ति=जल्पन्ति, नोद्यमशीलाः। (अतः हे पुरुषार्थिन्! दैवम्= भाग्यम्, निहत्य=तदुपेक्ष्य, अनादृत्य, आत्मशक्त्या[4]=स्वसामर्थ्येन, यथासामर्थ्यम्, पौरुषम्[5]=पुरुषोचितं कर्म, उद्यमम्, कुरु=विधेहि, अनुतिष्ठ, यत्ने=उद्योगे कृते=विहिते, अनुष्ठिते (अपि) यदि (कार्यं) न सिध्यति= फलीभूतो न भवति (चेत्, तदा), अत्र=मम यत्ने, उपाये वा, कः=को वा, दोषः[6] न्यूनता, विकलता त्रुटिर्वा (जातः, इति चिन्तनीयम्, न तु उद्योगस्त्यक्तव्यः, तादृशस्त्यागो नोचित उत्तमानाम्)।

भाषार्थः—सम्पत्ति वा सफलता पुरुषार्थी नरश्रेष्ठ को ही प्राप्त होती है। 'भाग्य से ही सब कुछ मिलता है' ऐसा आलसी व्यक्ति ही बोलते हैं, न कि उद्यमी पुरुष। अतः हे पुरुषार्थिन्! भाग्य की आशा को छोड़कर अपने सामर्थ्यानुकूल पूर्णमनो बल से पुरुषोचित कर्म करो। अपने कर्त्तव्य कर्म को पूर्ण करने पर भी यदि सफलता नहीं मिलती है,

---

१. लक्ष्मीः सम्पत्तिशोभयोः।
ऋद्ध्यौषधे च पद्मायां वृद्धिनामौषधेऽपि च (मे० २५.२८)।

२. पुरुषः पूरुषे साङ्ख्यज्ञे च पुन्नागपादपे (मे० ३१.४१)।

३. सिंहस्तु राशिभेदे मृगाधिपे। श्रेष्ठे स्यादुत्तरस्थश्च सिंही स्वर्भानुमातरि॥
वासाबृहत्योः क्षुद्रायां (हैमः २.६०८)।

४. शक्तिरस्त्रान्तरे गौर्यामुत्साहादौ बले स्त्रियाम्। (मे० १६.६२)।

५. पौरुषं पुरुषस्य स्याद् भावे कर्मणि तेजसि।
ऊर्ध्वविस्तृतदोः पाणिनृमाने त्वभिधेयवत्॥ (मे० ३१.४२)।

६. दोषः स्याद् दूषणे पापे दोषा रात्रौ भुजेऽपि च। (मे० ३१.१५)।
दोषा निशि निशामुखेः (हैमः, परि० ५५)।

तो प्रयत्न में कहाँ त्रुटि हुई है? इसका निरीक्षण करो, मन्थन करो। कारण के ज्ञात होने पर पुनः प्रयत्न करो, पर धैर्य न छोड़ो, हिम्मत मत हारो।

नीतिः

'दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या' एतेन ज्ञायते यत्—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन॥ १५०॥

—गीता २.४७॥

दैवेन, प्रारब्धेन प्राप्तव्यं यत् कर्मफलम्, तन्न मनुष्याधीनं, न च तस्मिन् विचारयितुं मनुष्यः शक्यः। अतः तं विषयं विहाय यद् कर्त्तव्यम् अस्ति तद् सततं कुर्यात्।

दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति—

यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः? अत्रायं सारः

प्रारम्भ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः [=कापुरुषैः],
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति॥ १५१ ॥

—भर्तृ०नीति० ७२, मुद्रा० २.१७॥

अपितु ('को ह्यत्र दोषः' इति ते च विचिन्तयन्ति)

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना॥ १५२ ॥

—म०भा०अनु० ६.१२॥

बहूनां समवाये हि भावानां कर्मसिद्धयः॥ १५३ ॥

—म०भा०वन० ३२.५१॥

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षत।
विनिपातनिवर्तनक्षमन्तमसालम्बनमात्मपौरुषम्॥ १५४॥



३०. यथा मृत्पिण्डतः कर्त्ता कुरुते यद् यदिच्छिति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते॥

अन्वयः—यथा कर्त्ता मृत्पिण्डतः यत् यत् कर्तुम् इच्छति (तत् तत्) कुरुते, एवं मानवः आत्मकृतं कर्म प्रतिपद्यते।

कोषः

मृत् २-	**मृन्मृत्तिका** (अ० २.१.४)।
कर्म २-	द्र० श्लोकः २४, पृ० ११२।
मानव ११-	द्र० नरः, श्लोक ४, पृ० ३४।
डुकृञ्	द्र० श्लोकः २०, पृ० ९८।
इच्छति २०-	**लषते लष्यति लषत्याशास्ते माङ्क्षीप्सति।** **आकाङ्क्षति स्पृहयति नाथते वष्टि वाञ्छति॥** **आशंसते कामयते लष्यते वाङ्क्षतीच्छति।** **लिप्सते हर्यतीच्छायां खटत्यप्यनुरुध्यते॥** (आ०च० १.३.१)

व्याकरणम्

कृदन्तः—पिण्डः पिडि संघाते (भ्वा० १७३)+पचाद्यच्। **कर्त्ता** डुकृञ्+तृच्-ण्वुल्तृचौ (३.१.१३३) इति तृच्, एकाच उपदेशे० इतीटो निषेधः सार्वधातुकार्ध० इति गुणः [कर्+तृ], ततस्सुः, तस्य च 'सुडनपुंसकस्य' (१.१.४२) इति सर्वनामस्थानसंज्ञा, तस्मिंश्च परतः ऋदुशनस्पुरुदंसोनेहसां च (७.१.९४) इत्यनङादेशः [कर्तृ+सु-कर्तन्+स्], अप्तृन्तृच्स्वसृ० (६.४.११) इत्युपधाया दीर्घः [कर्तान्+स्], हल्ङ्यादिना सोर्लोपः, नलोपः प्रातिपदि० (८.२.७) इति नस्य लोपः।

तद्धितान्तः—मृत्पिण्डतः मृत्पिण्ड+ङसि+तसिल्- पञ्चम्यास्तसिल् (५.३.७), 'कृत्तद्धित०' इति प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातु० (२.४.७१) इति ङसेर्लुक् [मृत्पिण्डतस्+सु=स्], तद्धितश्चासर्व० (१.१.३७) इत्यव्ययत्वात् अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) इति सोर्लुक्। **मानवः** मनोरपत्यं पुमान् मानवः, मनु+ङस्+अण्[1], पूर्ववत् सुपो लुक्,

१. अत्राण् एव, न तु अञ्, तेन सह षुकः प्रसंगात्-मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (४.१.१६१)।

'तद्धितेष्वचामादेः' (७.२.११७) इति वृद्धिः, ओर्गुणः (६.४.१४६) (मानो+अ), एचोऽयवा० (६.१.७५) इत्यवादेशः।

समासः—मृदः पिण्डः **मृत्पिण्डः**-षष्ठीतत्पुरुषः। आत्मना कृतम् **आत्मकृतम्**-तृतीयातत्पुरुषः।

तिङन्तः—इच्छति इषु इच्छायाम्+शप्+लट् (तिप्)- इषुगमियमां छः (७.३.७७) [इछ्+अ+ति], छे च (६.१.७१) इति तुक्, [इ त् छ्+अ+ति], स्तोः श्चुना श्चुः (८.४.३९) [इच्छति]। **प्रतिपद्यते** प्रति+पद् गतौ (दि० ५८)+श्यन्+त, टित आत्मनेपदानां टेरे (३.४.७९)।

अन्वयार्थः—यथा=यद्वत्, कर्ता=कुलालः, मृत्पिण्ड[2]तः=मृत्तिका-राशेः, यत् यत्=घटशरावादिकं, कर्तुम्=निर्मातुम्, इच्छति=कामयते, तत् तत्=मनोगतं घटाद्याकृतिमन्तं पदार्थम्, कुरुते=निर्माति, एवम्=तद्वदेव, मानवः (कुलालस्थानीयः) मानुषः, आत्मकृतम्=निजाचरितम्, कर्म=मृत्पिण्डरूपं शुभाशुभकर्मजालम् (सम्पाद्य ततः कर्मफलप्रदं दैवम्) प्रतिपद्यते=प्राप्नोति। घटाद्याकृतिभूतमभीष्टफलं लब्धुम् तदनुकूलं मृत्पिण्डभूतं कर्मजालं सम्पादनीयम् तावत्, ततः यत् यत् इष्यते तत् तत् प्रतिपत्तुं शक्यते इति भावः।

भाषार्थः—जिस प्रकार कुम्भकार (कुम्हार) अपनी इच्छा के अनुसार मिट्टी के गाले से जो जो चाहता है, वह वह बना लेता है, उसी प्रकार मनुष्य भी अभीष्टफलसिद्ध्यर्थ तदनुकूल मृत्पिण्डरूपी कर्मों का सञ्चय कर, उनसे अभीष्टफल को प्रदान करने वाले भाग्य को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् जैसे घटादि की प्राप्ति के लिए तदनुकूल मृत्पिण्डनिर्माण आदि कर्म किये जाते हैं, वैसे ही अभीष्टफलसिद्धि के लिए, सुख, शान्ति ऐश्वर्य आदि फल को सिद्ध करने वाले भाग्य की प्राप्ति के लिए

---

२. पिण्डो वोले बले सान्द्रे देहागारैकदेशयोः॥
देहमात्रे निवापे च गोलसिह्लकयोरपि। ओड्रपुष्पे च पुंसि स्यात् क्लीबमाजीवनायसोः॥
पिण्डी तु पिण्डीतगरेऽलाबुखर्जुरभेदयोः। (मे० १३.१८-२०) तथा च—
पिण्डो वृन्दे जपापुष्पे गोले वोलेऽङ्गसिल्हयोः॥
कवले पिण्डं तु वेश्मैकदेशे जीवनायसोः।
बले सान्द्रे पिण्ड्यलाबूखर्जूरयोस्तगरेऽपि च॥ (हैमः २.१२४, १२५)।

तदनुकूल कर्मों का सञ्चय या अनुष्ठान करना चाहिए।

नीतिः

अभीष्टफलोत्पादकं कर्म एव अनुष्ठातव्यम् न तु विपरीतम्।

यथा च उक्तम्—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति मानवाः॥ १५५॥
खननान्मथनाल्लोके जलाग्निप्रापणं तथा।
तथा पुरुषकारे तु दैवसम्पत् समाहिता॥ १५६॥

—म०भा०अनु० १४५॥

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥ १५७॥

◈ ◈ ◈

३१. काकतालीयवत् प्राप्तं दृष्ट्वाऽपि निधिमग्रतः।
न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते॥

अन्वयः—काकतालीयवत् प्राप्तं निधिम् अग्रतः दृष्ट्वा अपि दैवं स्वयं न आदत्ते (किन्तु तत्र अपि) पुरुषार्थम् अपेक्षते (एव)।

कोषः

काक १३- **काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः।**
ध्वाङ्क्षात्मघोषपरभृद्बलिभुग्वायसा अपि॥
स एव च चिरञ्जीवी चैकदृष्टिश्च मौकुलिः। (अ० २.५.२०)

ताल २- **तृणराजाह्वयस्तालः** (अ० २.५.१६८)

प्राप्त ६- **लब्धं प्राप्तं विन्नं भावितमासादितं च भूतं च** (अ० ३.१.१०४)

निधि २- **निधिर्ना शेवधिः** (अ० १.१.७१)

दृश्, ईक्ष् १६- **निर्वर्णयति निध्यायत्यालोकयति पश्यति।**
अलोकते लक्षयते निभालयत ईक्षते॥
निरूपयत्यपि निशामयते च विचायति।
निबुन्दत्यात्मनेऽपि द्वौ लक्षयत्यपि लोचते॥

चष्टे छन्दसि सम्पश्यत्यात्मने स्यादकर्मकः।

(आ०च० १.२.२९)

डुदाञ् २३- द्र० श्लोक- १, पृ० २३।

व्याकरणम्

कृदन्तः—प्राप्तम् प्र+आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० १५)+क्त-निष्ठा (३.२.१०२)। **दृष्ट्वा** दृशिर् प्रेक्षणे (भ्वा० ७१४)+क्त्वा- समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३.४.२१), एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७.२. १०) इतीटो निषेधः [दृश्+त्वा], व्रश्चभ्रस्ज० (८.२.३६) इति शस्य षत्वम्, ष्टुना ष्टुः (८.४. ४०) इति ष्टुत्वम्, [दृष्ट्वा], क्त्वातोसुन्० (१.१.३९) इत्यव्ययत्वात् सोर्लुक्। **निधिम्** नि+डुधाञ् धारणपोषणयोः (जु० १०)+कि-उपसर्गे घोः किः (३.३.९२) [नि+धा+इ], आतो लोप इटि च (६.४.६४) इत्याल्लोपः।

तद्धितान्तः—काकतालम् इव **काकतालीयम्,** काकाताल+छ-समासाच्च तद्विषयात् (५.३.१०६) इतीवार्थे छः, तस्य च स्थाने 'आयनेयी०' (७.१.२) इतीयादेशः। काकतालीयमिव **काकतालीय-वत्**—तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः (५.१.११४) इति वतिप्रत्ययः। **अग्रतः**—अग्रे इत्यग्रतः, सप्तम्यर्थे तसिः- तसिप्रकरण आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् (वा० ५.४.४४)।

समासः—काकस्यागमनमिव तालस्य पतनमिव **काकतालम्** सुप्सुपासमासः।

तिङन्तः—आदत्ते आ+डुदाञ् दाने (जु० ९)+लट्, ञित्वात् 'स्वरितञितः' ०इति आत्मनेपदम् [आ+दा+त], कर्त्तरि शप् (३.१.६८), जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२.४.७५), श्लौ (६.१.१०) इति द्वित्वम् [आ+दा दा+त], ह्रस्वः (७.४.५९), श्नाभ्यस्तयोरातः (६.४.११२) इत्याल्लोपः [आ+दद्+त], खरि च (८.४.५४) इति चर्त्वम्, टित आत्मनेपदानां टेरे (३.४.७९)।

अन्वयार्थः—काक[1]ताली[2]यवत्=काकतालीयन्यायेन[3] दैववशाद् अनायासेन, प्राप्तम्=लब्धम्, निधिम्=धनादिपुञ्जम्, अग्र[4]तः=पुरतः, सम्मुखे, दृष्ट्वा अपि=विलोक्यापि दैवम्=प्रारब्धम्, स्वयम्=स्वतः न आदत्ते=न गृह्णाति, उत्थाप्य न ददाति, (किन्तु तत्रापि) पुरुषार्थम्= हस्त-चालनादिकः पुरुषव्यापारः, अपेक्षते=आश्रयते एव, साहायमपेक्षते एव।

भाषार्थः—काकतालीयन्याय से दैवयोग से अनायास प्राप्त निधि (खजाने) को सम्मुख देखकर भी प्रारब्ध (भाग्य) स्वयं उसे उठाकर नहीं देता, अपितु ऐसे अवसरों पर भी अर्थात् भाग्य के फलीभूत होने की वेला में भी भाग्य को पुरुषोचित व्यापार की अपेक्षा रहती ही है। अतः भाग्यवान् मनुष्यों को भी पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए।

नीतिः

अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम्।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः॥ १५८॥

—म०भा०अनु० ६.१५॥

---

१. काकः स्याद् वायसे वृक्षप्रभेदे पीठसर्पणि। शिरोवक्षालने मानप्रभेदद्वीपभेदयोः॥ काका स्यात् काकनासायां काकोलीकाकजङ्घयोः। रक्तिकायां मलप्वां काकमाच्या च योषिति॥ काकं सुरतबन्धे स्यात् काकानामपि संहतौ। (विश्वमेदिन्यौ- ५.३२-३४, १.२०-२२)

२. तालः करतलेऽङ्गुष्ठमध्यमाभ्याञ्च सम्मिते। गीतकालक्रियमाने करास्फाले द्रुमान्तरे॥ वाद्यभाण्डे च कांस्यस्य त्सरौ ताली जटौषधौ। क्लीबन्तु हरिताले स्यात् (मे० १८.२३ २४)

३. तालः करतलयोः शब्दजनकः संयोगः, तस्मिन् क्रियमाणे उत्पतन् काको दैवात्तत्र तालाभ्यामाक्रान्तोऽभूत्, तदेतत् काकतालीयमित्युच्यते। काकस्पर्शसमकालं तालफलस्य तालवृक्षस्य वा पतनं तदित्यन्ते (नीलकण्ठः मा०भा०शान्ति० १७७.११)। ''काकतालीयम्----अतर्कितोपनतं चित्रीकरणमुच्यते। तत्कथम्? काकस्यागमनं यादृच्छिकम् तालस्य पतनं च। तेन तालेन पतता काकस्य वधः कृतः। एवमेव देवदत्तस्य तत्रागमनम्, दस्यूनां चोपनिपातः। तैश्च तस्य वधः कृतः। तत्र यो देवदत्तस्य दस्यूनां च समागमः स काकतालसमागमसदृश इत्येक उपमार्थः। अतश्च देवदत्तस्य वधः, स काकतालवधसदृशः इति द्वितीय उपमार्थः। तत्र प्रथमे समासः, द्वितीये [छः] प्रत्ययः'' (काशिका० ५.३.१०६)। प्रकृते च कस्यचन पथिकस्य पथि गमनम्, तस्मिन्नेव पथि निधेः पतनम् काकतालसमागमसदृश इत्येक उपमार्थः, अस्मिन्नेवार्थे सुप्सुपा समासः। अतश्च पथिकेन निधेः प्राप्तिः काकतालवधसदृशः इति द्वितीय उपमार्थः। अस्मिन्नेवार्थे छप्रत्ययः।

४. अग्रं पुरस्तादुपरि परिमाणे पलस्य च॥ आलम्बने समूहे च प्रान्ते च स्यान्नपुंसकम्। अधिके च प्रधाने च प्रथमे चाभिधेयवत्॥ (मे० २७.३-४)।

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा,
पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम्।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणम्,
पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः॥ १५९॥

—म०भा०अनु० ६.४५॥

गच्छन् पिपीलिको याति योजनानां शतैरपि।
अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति॥ १६०॥
आलस्यं हि मनुष्याणां जीवने च महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वाऽयं नावसीदति॥ १६१॥
चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रायते चरन्॥ १६२॥

—ऐ०ब्रा० ७.१७.५॥



३२. उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि, न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥

अन्वयः—उद्यमेन हि कार्याणि सिध्यन्ति, मनोरथैः (तु) न सिध्यन्ति। हि सुप्तस्य सिंहस्य मुखे मृगाः न प्रविशन्ति।

कोषः

उद्यम, सिंह- द्र० श्लोकः २९, पृ० १२५।

मनोरथ १२- **अथ दोहदम्।**
इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः॥
कामोऽभिलाषस्तर्षश्च (अ० १.७.२७, २८)

मुख ७- **वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्** (अ० २.६.८९)।

मृग ३- **(श्रृगालार्थे) कोक ईहामृगो वृकः** (अ० २.५.७)।

मृग ५- **(हरिणार्थे) मृगे कुरङ्गवातायुहरिणाजिनयोनयः।**
(अ० २.५.८)

षिधु ८- द्र० श्लोकः- २७, पृ० १२०।

व्याकरणम्

कृदन्तः—उद्यमेन उद्+यम उपरमे (भ्वा० ७१०)+घञ्-भावे, संज्ञापूर्वको विधिरनित्य (परि० १२०) इति न वृद्धिः, 'अड उद्यमे' इति निपातनाद्वा। **कार्याणि** कृ+ण्यत्- ऋहलोर्ण्यत् (३.१.१२४),. अचो ञ्णिति (७.२.११५)। **सुप्तस्य** ञिष्वप शये (अदा० ६१)+क्तः- निष्ठा (३.२.१०२), धात्वादे षः सः (६.१.६२) इति सत्वम् [स्वप्+त], वचिस्वपियजादीनां किति (६.१.१५) इति सम्प्रसारणम् [सु अ प्+त], सम्प्रसारणाच्च (६.१.१०४) इति पूर्वरूपैकादेशः [सुप्+त]। **मृगाः** मृग अन्वेषणे (चु० ३२२)+णिच्+घञ्-अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३.३.१९), अतो लोपः (६.४.४८) इत्यकारस्य लोपः, तस्य स्थानिवत्त्वात् (१.१.५५) णिचि वृद्धिर्न भवति, णेरनिटि (६.४.५१) इति णेर्लोपः [मृग्+अ]।

समासः—मन एव रथोऽस्य **मनोरथः**-बहुव्रीहिः। मनः रथः इवेति **मनोरथः**-उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (२.१.५५) इति वा तत्पुरुषः।

तिङन्तः—प्रविशन्ति प्र+विश प्रवेशने (तु० १३३)+झि (लट्)-झोऽन्तः (७.१.३), [प्र+विश्+अन्ति], तुदादिभ्यः शः (३.१.७७) [प्र+विश्+अ (श)+अन्ति] लघूपधगुणस्तु सार्वधातुकमपित् (१.२.४) इति ङित्वात् क्ङिति च (१.१.५) इति निषिद्धः।

अन्वयार्थः—उद्यमेन= प्रयत्नेन, हि=एव, कार्याणि=कृत्यानि, सिध्यन्ति=फलन्ति, मनोरथैः='ममेदं भवतु', 'सिध्यतु ममेदम्', 'अहमेवं भवेयम्', इति संकल्पमात्रैस्तु कार्याणि न सिध्यन्ति। हि=यथा हि (यतः), सुप्तस्य=निश्चेष्टितस्य, सिंहस्य=बुभुक्षितस्यापि मृगेन्द्रस्य, मुखे[१]=आस्ये, मृगाः[२]=हरिणादयः पशवः, न प्रविशन्ति=न यान्ति, परं क्षुन्निवृत्त्यर्थं मृगेन्द्रोऽपि मृगयां करोत्येव, अतः मनुष्यैरपि यत्नो विधेयः।

---

१. मुखं निःसरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपि।
सन्ध्यन्तरे नाटकादेः शब्देऽपि च नपुंसकम्॥ (मे० २.३,४)

२. मृगः पशौ कुरङ्गे च करिनक्षत्रभेदयोः।
अन्वेषणे च याञ्चायां मृगी तु वनितान्तरे॥ (विश्वमेदिन्यौ- २४.५, ३.१६)

भाषार्थः—सतत प्रयत्न से ही कार्य सफल होते हैं, न कि केवल मानसिक कल्पनाओं (मनोलीलाओं, हवाई किलों) से कार्य सिद्ध नहीं होते, जैसे कि आलसी में पड़े हुए उद्योगशून्य बुभुक्षित सिंह के मुख में पशु स्वयं प्रविष्ट नहीं होते, बल्कि उसे आखेट रूपी उद्योग करना ही पड़ता है। अतः मनुष्यों को भी उद्योग अवश्य करना चाहिए।

नीतिः

विद्याविक्रमजं योऽस्ति साधु सोऽस्तीह मानवः।
श्वापि नाम स्वलाङ्गूलबलनात् फलमश्नुते॥ १६३॥
उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात् परं बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किञ्चिदपि दुर्लभम्॥ १६४॥
उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवः सहायकृत्॥ १६५॥
उद्यमो मित्रवद् ग्राह्यः प्रमादं शत्रुवद् त्यजेत्।
उद्यमेन परा सिद्धिः प्रमादेन क्षयो भवेत्॥ १६६॥

—बु०च० २६.७३॥

क्रियाविरहितं हन्त! ज्ञानमात्रमनर्थकम्।
गतिं विना पथिज्ञोऽपि नाप्नोति पुरमीप्सितम्॥ १६७॥

—ज्ञा०सा० ९.२॥

न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्॥ १६८॥ —कु० ५.४५॥



३३. मातापितृकृताभ्यासो गुणितामेति बालकः।
न गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रो भवति पण्डितः॥

अन्वयः—मातापितृकृताभ्यासः बालकः गुणिताम् एति। गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रः पण्डितः न भवति।

कोषः

मातृ- द्र० श्लोकः १५, पृ० ७९।
पितृ- द्र० श्लोकः १९, पृ० ७४।

बालक २- **बालकस्तु स्यान्माणवकः** (अ० २.६.४२)।
गर्भ २- **गर्भस्य गर्भस्थस्य शिशोश्च द्वे नामनी।**
गर्भो भ्रूण इमौ समौ (अ० २.६.३९)।
पुत्र- द्र० पृ० ६३।
पण्डितः- द्र० श्लोकः २, पृ० २७ **(प्राज्ञः शब्दः)।**

व्याकरणम्

कृदन्तः—अभ्यासः अभि+आ+असु क्षेपणे (दि० ९९)+घञ्-भावे (३.३.१८)। 'अत उपधाया' इति वृद्धिः, यणादेशः सवर्णदीर्घैकादेशश्च। **च्युति** च्युङ् गतो (भ्वा० ६८४)+स्त्रियां क्तिन् (३.३.९४)।

तद्धितान्तः—गुणिताम् गुणाः सन्ति यस्य सः गुणी-अत इनिठनौ (५.२.११५)। गुणिनो भावः गुणिता, ताम् तथोक्तम्, तस्य भावस्त्वतलौ (५.१.११८) इति तल् प्रत्ययः [गुणिन् ङस् तल्- गुणिन् त+टाप् गुणित+आ] **बालकः** बाल+कन्-संज्ञायाम् कन् (५.३.८७), स्वार्थिको वा। पण्डा बुद्धिः सञ्जाता अस्य स **पण्डितः** तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् (५.२.३६) इति 'इतच्' प्रत्ययः।

समासः—माता च पिता च मातापितरौ-चार्थे द्वन्द्वः (२.२.२९) इति द्वन्द्वसमासः, आनङ् ऋतो द्वन्द्वे (६.३.२४), ताभ्यां कृतः कारितः अभ्यास येन सः- मातापितृकृताभ्यासः- त्रिपदबहुव्रीहिः।

तिङन्तः—एति इण् गतौ (अदा० ३८)+तिप् (लट्), कर्तरि शप् (३.१.६८), अदादित्वात् शपो लुक्, तिपि 'सार्वधातुकार्ध०' (७.३.८४) इति गुणः।

अन्वयार्थः—मातापितृकृताभ्यासः=मात्रा पित्रा च संस्कारितः पाठितश्च बालकः[१]=तनयः, गुणिताम्=गुणवत्त्वम् विद्वत्त्वञ्च एति=लभते।

---

१. बालकः पुनः। शिशौ मूर्खेऽश्वगजयोर्बालधौ (हैमः ३.७४)।
बालोऽज्ञेऽश्वेभपुच्छयोः। शिशौ ह्रीवेरकवयोर्बाला तु त्रुटियोषितोः॥ बाली भूषान्तरे मेध्ये (हैमः २.५०५-५०६)।
बालो ना कुन्तलेऽश्वस्य करिणश्चापि बालधौ। नारिकेले हरिद्रायां मल्लिकाभिद्यपि स्त्रियाम्॥ वाच्यलिङ्गोऽर्भके मूर्खे ह्रीबेरे पुन्नपुंसकम्। अलङ्कारान्तरे मेध्ये बाली बाला त्रुटौ स्त्रियाम्॥ (मे० २८.३९-४०)

केवलं गर्भ[2]च्युतिमात्रेण=जन्मग्रहणमात्रेण, पुत्रः=आत्मजः, पण्डितः= विद्वान् द्विजो वा न भवति=न सम्पद्यते।

भाषार्थः—माता और पिता के द्वारा संस्कारित एवं शिक्षित पुत्र ही गुणवान् तथा विद्वान् बनता है। केवल ब्राह्मणादि के कुल में जन्म लेने मात्र से अर्थात् जन्मते ही कोई भी पुत्र पण्डित वा द्विज नहीं होता।

नीतिः

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते॥ १६९॥
न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः॥ १७०॥

—शु०नी० १.३८॥

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम्।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम्॥ १७१॥

—सं०सु०र०- ३१॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
तथा वेदं विना विप्रस्त्रयस्ते नामधारकाः॥ १७२॥

—प०स्मृ० ८.२३, मनु० २.१५७॥

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः शूद्रादल्पतरः स्मृतः। १७३॥

—म०भा०वन० ३१३.१११॥



३४. माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

अन्वयः—येन (पित्रा) बालः न पाठितः (सः) पिता (तद्बालस्य) वैरी (भवति, यया च मात्रा) बालः न पाठितः (सा) माता (तद्बालकस्य) शत्रुः (भवति, यतोहि) हंसमध्ये बको यथा न शोभते (तथा स बालः) सभामध्ये न शोभते।

---

२. गर्भो भ्रूणेऽर्भके कुक्षौ सन्धौ पनसकण्टके (मे० २४.३)।

कोषः

शत्रु, वैरिन् १९- **रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः॥**
द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः।
अभिघातिपराघातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः॥ (अ० २.८.१०, ११)

सभा ९- **समज्या परिषद्गोष्ठी सभासमितिसंसदः।**
आस्थानी क्लीबमास्थानं स्त्रीनपुंसकयोः सदः॥
(अ० २.७.१५)

मध्य ३- **मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री** (अ० २.६.७९)

हंस ४- **हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः** (अ० २.५.२३)

बक २- **अथ बकः कह्वः** (अ० २.५.२२)

शुभ् ३२- **चकास्ति भासते भाति द्योतते रोचतेऽसति।**
राजते त्वेषति घृणोत्यात्मनेऽपि चतुष्टयम्॥
भ्राजते शुम्भति शुभत्येजते शोभते तथा।
प्रकाशते भ्राशते च भ्लाशते श्यन्यपि द्वयम्॥
भ्रेजते दीव्यति हटत्यमी ज्वलति जोतते।
वर्चते दीप्यते दीप्तौ कनत्युल्लसतीति च॥
केचिज्जिघर्ति दीधीते बभस्ति धान्दसान्विदुः।
कञ्चते योतते मन्दतेऽमी द्वात्रिंशदीरिताः॥
(आ०च० २.१.१४)

व्याकरणम्

कृदन्तः—पाठितः पठ व्यक्तायां वाचि+णिच्-हेतुमति च (३.१.२६), अत उपधायाः (७.२.११६) पाठि+क्तः-निष्ठा (३.२.१०२), आर्धधातुकस्येड्० (७.२.३५) [पाठि+इत], निष्ठायां सेटि (६.४.५२) इति णेर्लोपः [पाठित]। **सभा** सह भान्त्यस्याम् इति सभा, सह+भा दीप्तौ (अदा० ४४)+अङ्-षिद्भिदादिभ्योऽङ् (३.३.१०४), सहस्य सः संज्ञायाम् (६.३.७७) सादेशः। समाना भान्त्यस्याम् इति वा सभा-समानस्य० (६.३.८३) इति योगविभागात् सभावः, सभा राजामनुष्य० (२.४.२३) इति निर्देशाद् वा सादेशः।

तद्धितान्तः—वैरी वीरस्य कर्म भावो वेति वैरम्-वीर+अण् हायनान्त० (५.१.१२९), द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयोः (४.३.१२५) इत्यत्र निर्देशाद्वाण्, तद्धितेष्वचामादेः इति वृद्धिः। वैरमस्यास्तीति वैरी-अत इनिठनौ (५.२.११५)।

समासः—सभायाः मध्ये-सभामध्ये, हंसानां मध्ये-हंसमध्ये-उभयत्र षष्ठी (२.२.८) इति षष्ठीतत्पुरुषः।

अन्वयार्थः—येन (पित्रा) बालः=स्वपुत्रः न पाठितः=नाध्यापितः (सः) पिता=जनकः (तद्बालकस्य) वैरी=अहितकारी (भवति), (यया च मात्रा) बालः=स्वतनयः न पाठितः=न शिक्षितः, (सा) माता=जननी (तद्बालकस्य) शत्रुः=अहितकारिणी भवति, (यतोहि) हंसमध्ये[1]= श्वेतगरुतां मध्ये, बकः[2]=कह्वः, यथा=यद्वत्, न शोभते=न रोचते, (तथा= तद्वत्, स बालः) सभा[3]मध्ये=विद्वत्परिषदि न शोभते=न राजते, आद्दतो न भवतीति यावत्।

भाषार्थः—जिस माता-पिता ने अपने बालक को शिक्षित नहीं कराया, वे माता पिता उस बालक के शत्रु के समान हैं, अर्थात् अहितकारी हैं। क्योंकि अशिक्षित वह बालक विद्वानों के बीच में बैठकर भी वैसे ही सुशोभित नहीं होता, जैसे हंसों के मध्य में बगुला।

नीतिः

शोभते विदुषां मध्ये नैव निर्गुणमानसः।
अन्तरे तमसां दीपः शोभते नार्कतेजसाम्॥ १७४॥

—सं०सु०र० ८५॥

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ १७५॥

—रघु० १.२४॥



१. द्र० पृ० १०३।
२. बकस्तु बकपुष्पे स्यात् कह्वे श्रीदे च रक्षसि (मे० १.३०)।
३. सभा द्यूतसमूहयोः। गोष्ठ्यां सभ्येषु शालायाम् (हैमः २.३१७)।

३५. रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

अन्वयः—रूपयौवनसम्पन्नाः विशालकुलसम्भवाः (अपि) विद्याहीनाः (सन्तः मानवाः) निर्गन्धाः किंशुका इव न शोभन्ते।

कोषः

यौवन २- **तारुण्यं यौवनं समे** (अ० २.६.४०)।
विशाल ९- **विशङ्कटं पृथु बृहद् विशालं पृथुलं महत्॥ वड्रोरुविपुलम्** (अ० ३.१.६०, ६१)।
कुल ९- द्र० **वंशः**, श्लोकः २०, पृ० ९८।
हीन ६- **त्यक्तं हीनं विधुतं समुज्झितं धूतमुत्सृष्टम्** (अ० ३.१.१०७)।
किंशुक ४- **पलाशे किंशुकः पर्णो वातपोथः** (अ० २.४.२९)।

व्याकरणम्

सन्धिः—०सम्पन्नाः, ०हीनाः, निर्गन्धाः-अत्र सर्वत्र भोभगो० (८.३.१७) इति विसर्गस्य (रु) स्थाने यकारादेशः, तस्य च 'लोपः शाकल्यस्य' (८.३.१९) इति लोपः।

कृदन्तः—रूपम् रूप क्रियायाम् (चु० ३६०)+पचाद्यच्। **सम्पन्नाः** सम्+पद गतौ (दि० ५८) +क्त-निष्ठाः (३.२.१०२) [सम्+पद्+त], एकाच उपदेशे० (७.२.१०) इतीटो निषेधः, रदाभ्यां० (८.२.४२) इति तकारदकारयोः स्थाने नकारादेशः [सम्पन्न], समो मकारस्य पूर्वं मोनुस्वारः (८.३.२३) इत्यनुस्वारः, ततः तस्य स्थाने अनुस्वारस्य ययि० (८.४.५७) इति परसवर्णः। **कुलम्** कुल संस्त्याने बन्धुषु च (भ्वा० ५८३)+कः- इगुपधज्ञा० (३.१.१३५)। कुं भूमिं लातीति वा कुलम्, कु ङस्+ला+क- आतोऽनुपसर्गे कः (३.२.३)। **सम्भवाः** सम्+भू सत्तायाम् (भ्वा० १)+अप्-ऋदोरप् (३.३.५७), सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः [सम्+भो+अ], एचोऽय० (६.१.७५) इत्यवादेशः। **हीनाः** ओहाक् त्यागे (जु० ८)+क्त, एकाच उपदेशे० इतीण्णिषेधः, घुमास्था० (६.४.६६) अनेन इत्वम्, ओदितश्च (८.२.४५) इति निष्ठाया नत्त्वम्।

तद्धितान्तः—यौवनम् यूनो भावः-युवन्+अण् हायनान्तयुवादिभ्योऽण् (५.१.१२९), तद्धितेष्वचामादेः (७.२.११७) इति वृद्धिः [यौवन्+अ], नस्तद्धिते (६.४.१४४) इत्यनेन प्राप्तष्टिलोपस्तु 'अन्' (६.४.१६७) इति प्रकृतिभावेन निषिध्यते। **विशालः** वि+शालच्- वेः शालच्छङ्कटचौ (५.२.२८)।

समासः—रूपं च यौवनं च रूपयौवने- चार्थे द्वन्द्वः (२.२.२९), ताभ्यां सम्पन्नाः **रूपयौवनसम्पन्नाः**-तृतीयातत्पुरुषः। विशालं च तत् कुलं-विशालकुलम्-कर्मधारयः, तस्मिन् सम्भवाः-**विशालकुलसम्भवाः**-सप्तमीतत्पुरुषः। विद्यया हीनाः- **विद्याहीनाः**—कर्तृकरणे कृता बहुलम् (२.१.३२) इति तृतीयातत्पुरुषः। निर्गतो गन्धो येभ्यस्ते- **निर्गन्धाः** बहुव्रीहिः- प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदस्य लोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्यः (वा० २.२.२४)।

अन्वयार्थः—रूप[१]यौवनसम्पन्नाः=शरीरलावण्येन तारुण्येन च युक्ताः सुशोभिताः विशालकुल[२]सम्भवाः[३]=महावंशोद्भवाः कुलीनाः (अपि) विद्याहीनाः=अज्ञाः (सन्तः, मानवाः) निर्गन्धाः[४]=सुरूपा अपि गन्धशून्याः, किंशुका इव=पलाशकुसुमानिवत्=न शोभन्ते=लोके न विराजन्ते, आदरं न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यथा सुन्दराण्यपि किंशुकपुष्पाणि न केषाञ्चन नृपादीनां शिरसि वा कण्ठे वा धार्यन्ते, निर्गन्धात्, तथैव विद्याहीनाः जनाः सुरूपाः कुलीना अपि विद्वत्सु न विराजन्ते इति यावत्।

भाषार्थः—सौन्दर्यशाली, यौवनसम्पन्न एवं उच्च कुल में होने पर भी विद्याहीन व्यक्ति उसी प्रकार शोभा वा आदर नहीं पाता, जिस प्रकार सुन्दर लालिमायुक्त और कोमल होने पर भी सुगन्ध रहित होने से पलाश का पुष्प राजाआदि के गले (माला) में एवं शिर पर कभी

१. रूपं स्वभावे सौन्दर्ये नामगे पशुशब्दयोः।
ग्रन्थावृत्तौ नाटकादावाकारश्लोकयोरपि॥ (मे० २१.९)

२. द्र० पृ० ९६।

३. सम्भवो जनने हेतौ मेलके चारुजन्मनि।
आधेयस्याधारानतिरिक्तत्वे समयेऽपि च॥ (हैमः ३.७५१-७५२)

४. गन्धः सम्बन्धलेशयोः॥ गन्धकामोदगर्वेषु (हैमः २, २४२-२४३)।

सुशोभित नहीं होता।

नीतिः

अन्तःसारविहीनस्य सहायः किं करिष्यति।
मलयेऽपि स्थितो वेणुर्वेणुरेव न चन्दनः॥ १७६॥
किं कुलेन विशालेन विद्याहीनस्य देहिनः।
अकुलीनोऽपि विद्यावान् सर्वत्र परिपूज्यते॥ १७७॥

◈ ◈ ◈

३६. **मूर्खोऽपि शोभते तावत् सभायां वस्त्रवेष्टितः।**
तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किञ्चिन्न भाषते॥

अन्वयः—वस्त्रवेष्टितः मूर्ख अपि सभायां तावत् शोभते, (परं सः) मूर्खः तावत् शोभते यावत् किञ्चत् न भाषते।

कोषः

मूर्ख ६- द्र० श्लोक १२ पृ० ७०।
वस्त्र ६- **वस्त्रमाच्छादनं वासश्चेलं वसनमंशुकम्** (अ० २.६.११५)।
वेष्टित ५- **वेष्टितं स्याद्वलयितं संवीतं रुद्धमावृतम्** (अ० ३.१.९०)
भाष् २३- द्र० ब्रू, श्लोकः ३, पृ० ३१।

व्याकरणम्

सन्धिः—किञ्चित्+न=किञ्चिन्न-यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८.४.४४)।

कृदन्तः—वेष्टितः वेष्ट वेष्टने (भ्वा० १५६)+क्त-निष्ठा (३.२.१०२) आर्धधातुकस्येड्० (७.२.३५)।

समासः—वस्त्रैः वेष्टितः वस्त्रवेष्टितः-कर्तृकरणे कृता बहुलम् (२.१.३१) इति तृतीयातत्पुरुषः।

अन्वयार्थः—वस्त्रवेष्टितः[१]=महार्हपट्टादिसद्वस्त्रावृत्तः मूर्खः= मूढः, निरक्षरभट्टाचार्यः, अपि=च, सभायाम्=पण्डितसदसि, तावत्=निश्चयेन,

१. वेष्टितं लासके रुद्धे स्त्रीकरणान्तरे (हैमः ३.३२७)।

शोभते=शोभां लभते (परं सः) मूर्खः=तावत् तत्कालपरिमितम्, च=एव शोभते=भासते, पण्डितायते यावत्=यत्कालपरिमितम्, किञ्चित्=किमपि, न भासते=अभिधत्ते।

भाषार्थः—बहुमूल्य दुशाला आदि उत्तम वस्त्रों से सुसज्जित अविद्वान् व्यक्ति भी विद्वत्सभाओं में निश्चितरूप से विद्वानों के सदृश शोभा पाता है। पर वह तब तक ही शोभता है, विद्वानों के समान सम्मान पाता है, जब तक कुछ नहीं बोलता अर्थात् मौन रहता। क्योंकि बोलने पर उसकी योग्यता (मूर्खता) प्रकट हो जाती है।

नीतिः

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः।
वसन्तकाले सम्प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः॥ १७८॥
उच्चासनगतो नीचो नीच एव न चोत्तमः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काको न गरुडायते॥ १७९॥

—नराभरण ४४॥

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन गुणेन कर्मणा॥ १८०॥

—वृ०चा० ५.२॥



एतच्चिन्तयित्वा स राजा पण्डितसभां कारितवान्। राजोवाच—भो भोः पण्डिताः श्रूयाताम्। अस्ति कश्चिदेवंभूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः?

अन्वयः—एतत् चिन्तयित्वा सः राजा पण्डितसभां कारितवान्। राजा उवाच—भोः भोः पण्डिताः श्रूयताम्। कश्चित् एवं भूतः विद्वान् अस्ति? यः नित्यम् उन्मार्गगामिनाम् अनधिगतशास्त्राणां मम पुत्राणाम् इदानीम् नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः (स्यात्), यतः-

कोषः

राजा ७- द्र० श्लोकः ४, **नृपः**, पृ० ३४।
पण्डित विद्वान्- द्र० श्लोकः २, **प्राज्ञः**, पृ० २७।
नित्य ९- **सततानारताश्रान्तसंततताविरतानिशम्॥**
नित्यानवरताजस्रमपि (अ० १.१.६५)
नित्य ५- **शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यसदातनसनातनाः॥** (अ० ३.१.७२)
मार्ग १२- द्र० पृ० ६३।
इदानीम् ५- द्र० पृ० १०४।

व्याकरणम्

सन्धिः—एतत्+चिन्तयित्वा=एतच्चिन्तयित्वा-स्तोः श्चुना श्चुः (८.४.३९)। सः+राजा=स राजा- एतत्तदोः सुलोपो० (६.१.१२८) इति सुलोपः। राजा+उवाच=राजोवाच- आद् गुणः (६.१.८४)। भोः+भोः=भो भोः-भोभगो० (८.३.१७) इति रेफस्य यत्वम्, तस्य च 'हलि सर्वेषाम्' (८.३.२२) इति लोपः।

कृदन्तः—चिन्तयित्वा चिति स्मृत्याम् (चु० २), इदित्वान्नुम् (७.१.५८) चिन्त्+णिच्+क्त्वा-०चुरादिभ्यो णिच् (३.१.२५) इति णिच्, समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले (३.४.२१) इति क्त्वाप्रत्ययः, आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७.२.३५) [चिन्ति+इत्वा], सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः, ततोऽयादेशः। **कारितवान्** कृ+णिच्-हेतुमति च (३.१.२६) अचो ञ्णिति (७.२.११५) इति वृद्धिः, कारि+क्तवत्-निष्ठा (३.२.१०२), तत इट् [कारि+इतवत्], निष्ठायां सेटि (६.४.५२), ततस्सुः [कारितवत् सुँ]-अत्वसन्तस्य चाधातोः (६.४.१४) इत्युपधाया दीर्घः [कारितवात् स्], उगिदचां० (७.१.७०) इति नुम् [कारितवान्त् स्], हल्ङ्यादिना सुलोपः संयोगान्तस्य लोपः (८.२.२३) इति तकारस्य लोपः। **विद्वान्** विद ज्ञाने (अ० ५७)+शतृ-लटः शतृशानचा० (३.२.१२४), कर्त्तरि शप् (३.१.६८), अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२.४.७२) इति लुक् [विद्+अत्], विदेःशतुर्वसुः (७.१.३६) इति वस्वादेशः [विद्+वस्],

ततः पूर्ववत् सुदीर्घनुम्सुलोपसंयोगान्तलोपाः। **उन्मार्गगामिनः** मृज्यते वितृणीक्रियते पादैरिति मार्गः-मृजूष शुद्धौ+घञ्, मृजेर्वृद्धिः (७.२.११४), चजोः कुः० इति कुत्वम्। उद्गतः कुत्सितो मार्गः उन्मार्गः (गतिसमासः), तं गच्छन्तीति गन्तुं शीला इति वा तथोक्तम्, उन्मार्ग ङस्+गम्+णिनिः-सुप्यजातौ णिनि० (३.२.७८), उपपदमतिङ् (२.२.१९) इति तत्पुरुषः, सुपो धातु० (२.४.७१) इत्यमो लुक् [उन्मार्ग+गम्+इन्], उपधावृद्धिः, [उन्मार्गगामिन्+अस्(जस्)]। **अधिगतम्** अधि+गम्+त-निष्ठा (३.२.१०२), अनुदात्तोपदेश०, इत्यनुनासिकलोपः। **समर्थः** सम्+अर्थ उपयाच्ञायाम् (चु० ३२६)+ पचाद्यच् (३.१.१३४)।

तद्धितान्तः—इदानीम् इदम्+दानीम्- दानीं च (५.३.१८) इदम इश् (५.३.३) इतीशादेशः।

समासः—पण्डितानां सभा-पण्डितसभा, तां **पण्डितसभाम्**-षष्ठीतत्पुरुषः। **उन्मार्गगामिनाम्**—द्र० कृदन्ते। अधिगतं पठितं शास्त्रं यैस्ते अधिगतशास्त्राः- अनेकमन्यपदार्थे (२.२.२४) इति बहुव्रीहिः। न अधिगतशास्त्राः-अनधिगतशास्त्राः-नञ् (२.२.६) इति नञ्तत्पुरुषः। नीतेः शास्त्रम्-नीतिशास्त्रम्-ष०त०।

तिङन्त—उवाच वच परिभाषणे (अ० ५६)+तिप् (लिट्), परस्मैदानां णलतुसु० (३.४.८२) इति तिपो णलादेशः [वच् अ], लिटि धातोरनभ्यासस्य (६.१.८) इति द्वित्वम् [वच् वच् अ], हलादिः शेषः (७.४.६०), अत उपधायाः (७.२.११६) इति वृद्धिः [व वाच् अ], लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् (६.१.१७) इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् [उ अ वाच् अ], सम्प्रसारणाच्च (६.१.१०४) इति पूर्वरूपैकादेशः।

अन्वयार्थः—एतत्=उक्तं सर्वम्, चिन्तयित्वा=विचार्य, सः=सुदर्शननामधेयः राजा=राट्, पण्डितसभाम्=विद्वन्मण्डलीम्, कारितवान्=आकारयामास। राजा=सुदर्शनः, उवाच=अब्रवीत्, भोः भोः=अहो, पण्डिताः=विबुधाः। भवद्भिः मम कथनं श्रूयताम्=आकर्ण्यताम्, कश्चित्=कोऽपि, एवंभूतः=एतादृशविलक्षणगुणसम्पन्नः, विद्वान्=कोविदः, अस्ति=

अस्यां सभायां विद्यते? यः=यः मनीषी, नित्यम्=सदा, उन्मार्ग[1]गामिनाम्=मर्यादरहितानाम् अपथपन्थानाम् असत्कर्मप्रवृत्तानामिति यावत्, अनधिगतशास्त्राणाम्=शास्त्रज्ञानशून्यानाम् मम=मदीयानाम्, पुत्राणाम्=तनयानाम्, इदानीम्[2]=साम्प्रतमपि, अध्ययनकाले व्यतीतेऽपि, यौवन इत्यर्थः, नीतिशास्त्रोपदेशेन=नीतिप्रतिपादकशास्त्राणामध्यापनेन, पुर्नजन्म=द्विजत्वम्, कारयितुम्=सम्पादयितुम्, समर्थः[3]=शक्तः स्यात्। यतः=यतोहि—

भाषार्थः—उक्त सभी विषयों का विचार कर राजा सुदर्शन ने पण्डितों की सभा कराई। उसमें राजा सुदर्शन ने कहा कि हे मान्य पण्डितों मेरी प्रार्थना सुनिये- आप में कोई ऐसा विद्वान् है? जो सतत असत्कार्यों में प्रवृत्त होने वाले और शास्त्रज्ञान से विहीन मेरे मूढ़ पुत्रों को, जो अपने अध्ययनकाल को समाप्त कर युवक बन चुके हैं, उन्हें भी नीतिशास्त्रोंका उपदेश वा अध्यापन से विद्वान् बना सके। क्योंकि-



३७. काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्।
तथा सत्सन्निधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम्॥

अन्वयः—(यथा) काचः काञ्चनसंसर्गात् मारकतीं द्युतिं धत्ते, तथा मूर्खः सत्सन्निधानेन प्रवीणतां याति।

कोषः

काच २- **क्षारः काचः** (अ० २.९.९९)।

काञ्चन १९- **स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्।**
तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्म कर्बुरम्॥
चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने।
रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्॥
(अ० २.९.९४, ९५)

१. मार्गो मृगमदे मासे सौम्यर्क्षेऽन्वेषणे पथि। (हैमः- २.४२)
२. इदानीं वाक्यभूषायां सम्प्रत्यर्थे च दृश्यते। (मे०अ० ६२)
३. समर्थस्तु हिते शक्ते सम्बन्धेऽप्यन्यलिङ्गकः। (मे० १७.२५)

द्युति ४- **शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः** (अ० १.३.१७)

सन्निधान २- **सन्निधानं सन्निकर्षणम्।**

प्रवीण १०- **प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः।**
वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल इत्यपि॥ (अ० ३.१.४)।

व्याकरणम्

कृदन्तः—काचः काच बन्धने दीप्तौ च (भ्वा० १०१)+पचाद्यच् (३.१.१३४) [कचः], ततः प्रज्ञादिभ्यश्च (५.४.३८) इति स्वार्थे अण्। **काञ्चनम्** काचि (काञ्च) दीप्तिबन्धनयोः (भ्वा० १०२)+नन्दिग्रहि० (३.१.१३४) इति ल्युः [काञ्च्+यु], युवोरनाकौ (७.१.१) इत्यनादेशः। **संसर्गात्** सम्+सृज विसर्गे (दि० ६७)+घञ् (३.३.१८), पुगन्त० (७.३.८६) इति गुणः, चजोः, कुः० (७.३.५२) इति कुत्वम्, मोऽनुस्वारः (८.३.२३)। **सन्निधानम्** सम्+नि+डुधाञ् धारणपोषणयोः+ल्युट् (३.३.११५)। **प्रवीणः** प्र+वीणा+णिच्-सत्यापपाशरूपवीणा० (३.१.२५), णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य० (वा० ६.४.१५५), टेः इति टेर्लोपश्च, प्र+वीण्+इ+अच्-पचाद्यच् **'णेरनिटि'** इति णेर्लोपः।

तद्धितान्तः—प्रवीणताम् प्रवीण+तल्-तस्य भावस्त्वतलौ (५.१.११८)। मरकतस्य इयम् मारकती, ताम्, मरकत+अण्-तस्येदम् (४.३.१२०), टिड्ढाणञ्० (४.१.१५) इति ङीप्।

समासः—काञ्चनस्य संसर्गः-**काञ्चनसंसर्गः,** तस्मात्[१] तथोक्तम्-षष्ठीतत्पुरुषः। सतां सन्निधानम् **सत्सन्निधानम्** ष०त०।

अन्वयार्थः—(यथा=यद्वत्) काचः[२]=क्षारः[३], अपकृष्टपार्थिव-पदार्थः, काञ्चन[४] संसर्गात्=सुवर्णसान्निध्यात्, मारकतीम्=मरकतमणि-सम्बन्धिनीम्, द्युतिम्[५]=प्रभाम्, धत्ते=धारयति, तथा=तद्वत्, मूर्खः=मूढः

१. हेतौ (२.३.२३) इति पञ्चमी।
२. काचोऽक्षिरोगे शिक्ये मणौ मृदि (हैमः २.५७)।
३. क्षारः काचे रसे गुडे। भस्मनि धूर्तलवणे (हैमः २.४०४)।
४. काञ्चनं हेम्नि किञ्जल्के काञ्चनो नागकेसरे। उदुम्बरे काञ्चनारे पुन्नागे चम्पकेऽपि च॥ काञ्चनी तु हरिद्रायाम् (हैमः ३.३९४-३.९५५)।
५. द्युतिः स्त्री रश्मिशोभयोः (मे० १६.२५)।

अकुशलः, सत्सन्निधानेन=सज्जनानां विदुषां सान्निध्येन सांगत्येन, प्रवीणताम्= कुशलताम् याति=विन्दति।

भाषार्थः—जैसे काँच सोने के संसर्ग से पन्नामणि के समान कान्ति को प्राप्त करता है, उसी प्रकार अकुशल मूढ़ व्यक्ति भी विद्वानों के संसर्ग से, सांगत्य से नैपुण्य को, वैदुष्य को प्राप्त करता है।

नीतिः

संसारविषवृक्षस्य द्वे फले ह्यमृतोपमे।
सुभाषित-रसास्वादः सज्जनानां च सङ्गतिः॥ १८१॥
—हि० १.१५४॥

तेजस्तेजस्विसङ्गेन क्षुद्रोऽपि तनुते महत्।
अर्कसम्पर्कतः पश्य दर्पणे दहनद्युतिम्॥ १८२॥
—सू०कु० २८॥

सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत सङ्गमम्।
सद्भिर्विवादं मैत्रीञ्च नासद्भिः किञ्चिदाचरेत्॥ १८३॥
—सं०सु०र० १२३॥

उक्तञ्च—



३८. हीयते समा मतिस्तात हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्॥

अन्वयः—तात! (जनस्य) मतिः हीनैः सह समागमात् हि हीयते, समैः च (सह समागमात्) समताम् एति, विशिष्टैः च (सह समागमात्) विशिष्टताम् (एति)।

कोषः

मति १४- **बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः।**
प्रेक्षोपलब्धिश्चित् संवित् प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतना॥ (अ० १.५.१)

तात ३- द्र० **पितृ,** श्लोकः १९, पृ० ९४॥

हीन ६- द्र० श्लोकः ३५, पृ० १४१।

समं ७- द्र० श्लोकः २२, पृ० १०६

ओहाक् १७- द्र० **त्यज्,** श्लोकः २६, पृ० ११८॥

व्याकरणम्

कृदन्तः—मतिः मन ज्ञाने (दि० ६५)+स्त्रियां क्तिन् (३.३.९४) [मन्+ति], अनुदात्तोपदेश (६.४.३७) इति नस्य लोपः। **हीनैः** ओहाक् त्यागे (जु० ८)+क्तः- निष्ठा (३.२.१०२) [हा+त], घूमास्थागापाजहाति० (६.४.६६) इतीत्वम्, ओदितश्च (८.२.४५) इति निष्ठाया नत्वम्। **समागमात्** सम्+आ+गम्+पचाद्यच्॥ **समैः**- सम अवैक्लव्ये+ पचाद्यच्। **विशिष्टैः** वि+शिष्लृ विशेषणे (रु० १४)+क्त निष्ठा (३.२. १०२) [वि+शिष्+त], ष्टुना ष्टुः (८.४.४०) इति ष्टुत्वम्।

तद्धितान्तः—समताम्, विशिष्टताम् उभयत्र तस्य भावस्त्वतलौ (५.१.११८) इति तल् प्रत्ययः, ततष्टाप्।

अन्वयार्थः—हे तात[१] !=हे पूज्य (जनस्य) मतिः[२]=स्वकीयो बुद्धिः, हीनैः[३]=स्वापेक्षयाल्पबुद्धिगुणस्वभाववद्भिः जनैः, सह=साकम्, समागमात्=सदा संसर्गात्, सायुज्यात्, हि=निश्चयेन, हीयते=हीनतां गच्छति, समैः[४]= स्वसमानगुणः, च (सह=समम्, समागमात्) समताम्=तुल्यताम् एति=याति, यथा विद्यते तथैवावतिष्ठते, न वृद्धिह्रासौ भवत इत्यर्थः, विशिष्टैः=स्वापेक्षयाधिकगुणशालिभिः च (सह=सार्धम्, समागमात्), विशिष्टताम्=श्रेष्ठताम्, पूर्वापेक्षयाधिकोत्कृष्टताम् (एति=लभते)। अतो विशिष्टैः सहैव संगतिः कर्तव्येति यावत्।

भाषार्थः—किसी ने कहा भी है कि—हे तात! मनुष्यों की बुद्धि नीचों के संग से भ्रष्ट हो जाती है, समान गुण वालों के साहचर्य से यथास्थिति बनी रहती है और श्रेष्ठों, महापुरुषों की संगति से महानता को प्राप्त कर लेती है। अतः सदा महापुरुषों की ही संगति करनी

१. स्निग्धे पितरि पूज्ये च तातशब्दः प्रयुज्यते।
२. मतिः स्त्रीच्छाधियोः (मे० १६.४३)।
३. हीनं गर्ह्योनयोस्त्रिषु (मे० २०.२६)।
४. समा संवत्सरे स्त्रियाम्॥ सर्वसाधुसमानेषु समं स्यादभिधेयवत्। (मे० २५.३४-३५)

चाहिए।

नीतिः

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते,
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तज्जायते मौक्तिकं,
प्रयेणाधममध्यमोत्तमगुणाः संसर्गतो जायते॥ १८४॥

—भर्तृ०नीति० ६७॥

सतां दुर्जनसंसर्गान्मानहानिः पदे पदे।
पावको लोहसङ्गेन मुद्गैरभिहन्यते॥ १८५॥

—सू०कु० पृ० २९॥

असतां सङ्गदोषेण साधवो यान्ति विक्रियाम्।
दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः॥ १८६॥

—पं० १.२७४॥

असत्सङ्गात् सज्जनोऽपि विषयासक्तमानसः।
अकस्मात् प्रलयं याति गीतलुब्धो यथा मृगः॥ १८७॥
स्वल्पेन दुर्गुणेनापि विपर्यस्यति सद्गुणः।
गुणरूपान्तरं याति तक्रयोगाद्यथा पयः॥ १८८॥

—सू०कु०पृ० २९-३०॥

बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात्।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः॥ १८९॥

—म०भा०वन० १.२९॥

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवत्ययोग्याश्च योग्याश्च॥ १९०॥

—नरा० २७१, पं० १.११९॥



अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्र-तत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाब्रवीत्-'देव! महाकुलसंभूता एते राजपुत्राः। तन्मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते।

अन्वयः—अत्रान्तरे बृहस्पतिः इव सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञः विष्णुशर्मनामा महापण्डितः अब्रवीत्, देव! एते राजपुत्राः महाकुल-सम्भूताः। तत् मया [एते] नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते।

कोषः

बृहस्पतिः ९- **बृहस्पतिः सुराचार्यो गीर्पतिर्धिषणो गुरुः।**
जीव आङ्गिरसो वाचस्पतिः चित्रशिखण्डिजः।
(अ० १.३.२४)

सकल १४- द्र० **सर्व,** श्लोक ३, पृ० ३०।
महत् ९- द्र० **विशाल** श्लोकः ३५. पृ० १४१।
कुल ९- द्र० **वंश,** श्लोक २०, पृ० ७८।
शक् १३- द्र० **अर्ह,** श्लोकः २६, पृ० ११८।

व्याकरणम्

कृदन्तः—अन्तं रातीति **अन्तरम्**—अन्त ङस्+रा दाने (अदा० ५०) कः-आतोऽनुपसर्गे कः (३.२.३), उपपदमतिङ् (२.२.१९) इति तत्पुरुषः, ततस्सुपो लुक् आतो लोप० (६.४.६४) इत्याल्लोपः। तत्वं जानातीति **तत्त्वज्ञः** तत्त्व ङस् ज्ञा अवबोधने (क्रया० ४०)+कः सर्वं पूर्ववत्। **ग्राहयितुम्** ग्रह उपादाने (क्र० ६४)+णिच्-हेतुमति च (३.१.२६), अत उपधायाः (७.२.११६), इति वृद्धिः, सनाद्यन्ता० (३.१.३२) इति धातुसंज्ञा, ततः समानकर्तृकेषु० (३.३.१५८) इति तुमुन् प्रत्ययः [ग्राहि+तुम्], आर्धधातुकस्येड्० (७.२.३५) इतीड्, सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः [ग्राहे+इतुम्], एचोऽय० इत्ययादेशः, कृन्मेजन्तः इत्यव्ययसंज्ञा, अव्ययादाप्सुपः (२.४.८२) इति सुपो लुक्।

समासः—विष्णुशर्मा नाम यस्य सः **विष्णुशर्मनामा**-अनेकमन्य-

पदार्थे (२.२.२४) इति बहुव्रीहिः। महाँश्चासौ पण्डितश्चेति **महापण्डितः**-सन्महत्० (२.१.६०) इति कर्मधारयतत्पुरुषः। नीतेः शास्त्रम् **नीति-शास्त्रम्**—षष्ठीतत्पुरुषः। सकलानि च तानि नीतिशास्त्राणि- **सकलनीति-शास्त्राणि**—इति कर्मधारयः। तेषां तत्त्वम्—**सकलनीतिशास्त्रतत्त्वम्**-षष्ठीतत्पुरुषः। तत् जानातीति **सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञः**—उपपदतत्पुरुषः। बृहतां पतिः- **बृहस्पतिः**—षष्ठीतत्पुरुषः, तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च (ग०सू० ६.१.१५७)। महच्चाद कुलञ्च **महाकुलम्**-पूर्ववत्कर्मधारयः। महाकुले सम्भूताः **महाकुलसम्भूताः**—सप्तमी (२.१.३९) इति योगविभागात् सप्तमीतत्पुरुषः। राज्ञः पुत्राः **राजपुत्राः**-षष्ठीतत्पुरुषः।

अन्वयार्थः—अत्र= अस्मिन्, अन्तरे[1]=अवसरे, बृहस्पतिः इव= देवगुरुवत् सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञः=निखिलनयविद्याप्रवीणः, महा-पण्डितः[2]=विबुधाग्रगण्यः विष्णुशर्मनामा[3]=तन्नामाभिधेयः, अब्रवीत्= अवोचत्, देव[4]=हे राजन्! एते=इमे, राजपुत्राः=राजकुमाराः, महाकुल[5] सम्भूताः=श्रेष्ठराजवंशे लब्धजन्मानः, तत्=तस्माद्धेतोः, मया= विष्णुशर्मणा एते नीतिम्=राजशासनपद्धतिं ग्राहयितुम्=अवबोधयितुम्, शक्यन्ते=पार्यन्ते।

भाषार्थः—राजा सुदर्शन के निवेदनोपरान्त उसी समय बृहस्पति के समान समस्त नीतिशास्त्रों के तत्त्ववेत्ता विद्वद्वरेण्य विष्णुशर्मा ने कहा- हे राजन्! ये राजपुत्र महान् राजवंश में उत्पन्न हुये हैं अर्थात् क्षत्रियोचित संस्कारों से जन्मे हैं। अतः मुझ विष्णुशर्मा के द्वारा ये राजपुत्र अनायास नीतिशास्त्र पढ़ाये जा सकते हैं अर्थात् मैं इन्हें अनायास

---

१. अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्धिभेदतादर्थ्ये।
छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्यात्मसदृशेषु॥ (मे० २७.१०६)
२. पण्डितः सिह्लधीमतोः (हैमः ३.२९०)।
३. नामार्थाः द्र० ५४, पृ० ५४।
४. देवो मेघे सुरे राज्ञि स्यान् नपुंसकमिन्द्रिये।
देवी कृताभिषेकायां तेजनीपृक्कयोरपि॥ (मे० २९.१२)
५. कुलशब्दार्थाः द्र० श्लोकः १९, पृ० ९६।

नीतिशास्त्र पढ़ाकर राजवंशानुकूल क्षत्रिय (द्विज) बना सकता हूँ।

यतः—



३९. नाद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्।
न व्यापारशतेनापि शुकवत् पाठ्यते बकः॥

अन्वयः—अद्रव्ये निहिता काचिद् (अपि) क्रिया फलवती न भवेत् (यथा) बकः व्यापारशतेन अपि शुकवत् (केन अपि) न पाठ्यते।

कोषः

शुकः २- **कीरशुकौ** (अ० २.५.२१)

बकः २- **अथ बकः कह्वः** (अ० २.५.२२)

पठ् ८- **पठत्यधीतेऽध्ययने चर्चयत्यपि चर्चति।**
आत्मनत्युपयुङ्क्ते च गमयत्यपि शिक्षते।
[शिक्षणेऽध्यापयति च शिक्षयत्यनुशास्ति च॥]

(अ०च० १.४.२, ३)

व्याकरणम्

कृदन्तः—निहिता नि+धा+क्त- द्र० श्लोक १, पृ० २४। **क्रिया** डुकृञ् करणे+श-कृञः श च (३.३.१००) [कृ+अ], रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७.४.२८) [क्रि+अ], अचिश्नुधातु० (६.४.७७) इतीयङ्, [क्रिय अ+टाप् (आ)=क्रिया]। **व्यापारः** वि+आ+पृङ् व्यायामे (तु० ११२)+घञ्-भावे (३.३.१८), अचो ञ्णिति (७.२.११५)।

तद्धितान्तः—द्रव्यम् द्र० श्लोक ३, पृ० ३२। **फलवती** फलमस्यास्तीति सा फलवती, फल+मतुप्-तदस्या० (५.२.९४), मादुपधायाश्च० (८.२.९) इति वत्वम् [फलवत्], उगितश्च (४.१.६) इति ङीप्। शुकेन तुल्यम् शुकवत्-शुक+वतिः-तेन तुल्यं० (५.१.११४)।

समासः—न द्रव्यम् अद्रव्यम्-नञ्तत्पुरुषः (२.२.६), नलोपो नञः (६.३.७२)। व्यापाराणां शतम् व्यापारशतम्, तेन तथोक्तम्- षष्ठीतत्पुरुषः (२.२.८)।

अन्वयार्थः—यतः=यतोहि- अद्रव्ये=असत्पात्रे, अयोग्ये, निहिता= योजिता, स्थापिता काचिद् अपि-या कापि, क्रिया=संस्कारः, शिक्षा, फल[1]वती=सफला न भवेत्=न स्यात्। (यथा) बकः[2]=कह्वः, मत्स्यादः पक्षिविशेषः, (अयोग्यत्वात्) व्यापारशतेन अपि=उद्योगबाहुल्येनापि, शुक[3]वत्=कीर इव, स्वल्पप्रयासेन यथा कीरः पात्रत्वात् पाठ्यते, तथेत्यर्थः, (केनापि पक्षिशिक्षकेन) न पाठ्यते=अध्याप्यते, पाठयितुमशक्य इति यावत्।

भाषार्थः—क्योंकि- अपात्र, योग्यता हीन में किया गया कोई भी सुधार का कार्य सफल नहीं होता। जैसे कि बोलने में सर्वथा असमर्थ बगुला अनेकों शिक्षण के उपाय करने पर भी वक्तृत्व में समर्थ तोते (सुग्गे) के समान बोल नहीं सकता। पर ये राजकुमार तो सुपात्र हैं, समर्थ हैं, अतः मेरा शिक्षण इनमें अवश्य सफल होगा।

नीतिः

सुपात्रे दीप्तिकृद् विद्या सुपात्रे दीप्तिकृत् कला।
सुपात्रे दीप्तिकृन्मैत्री सुपात्रे दीप्तिकृद् धनम्॥ १९१॥

—हिं०प्र० १.३॥

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥ १९२॥

—माल० १.६॥



१. फलं हेतुकृते जातीफले फलकसस्ययोः॥ त्रिफलायां च कक्कोले शस्त्राग्रे व्युष्टिलाभयोः। फली फलिन्याम् (हैमः २.५०१-५०२)

२. बकस्तु बकपुष्पे स्यात् कह्वे श्रीदे च रक्षसि (मे० १.३०)

३. शुको व्याससुते कीरे रावणस्य च मन्त्रिणि। शिरीषपादपे पुंसि ग्रन्थिपर्णे नपुंसकम्॥ (मे० १.३७)

४०. अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नापत्यमुपजायते।
आकारे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ?॥

अन्वयः—अस्मिन् तु गोत्रे निर्गुणम् अपत्यं न उपजायते। (यथा) पद्मरागाणाम् आकरे काचमणेः जन्म कुतः (भवति) ?

कोषः

गोत्र ९- द्र० **वंश,** श्लोकः २०, पृ० ९८।
अपत्य २- **अपत्यं तोकं तयोः समे** (अ० २.६.२८)।
आकर २- **खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्** (अ० २.३.७)।
पद्मराग ३- **शोणरत्नं लोहितकः पद्मरागः** (अ० २.९.९२)।
जन्म ६- द्र० श्लोकः २३ पृ० ११०।
काच २- द्र० श्लोकः ३७, पृ० १४७।
मणि २- **रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च॥** (अ० २.९.९३)
जन् ४- **उत्पद्यते जायते च प्ररोहत्युद्भवत्यपि॥** (आ०च० १.१.२)

व्याकरणम्

सन्धिः—अस्मिन्+तु=**अस्मिंस्तु** (अस्मिँस्तु)-नश्छव्यप्रशान् (८.३.७) इति नस्य रुत्वम् [अस्मिर् (रुँ)+तु], अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः (८.३.४) इत्यनुस्वारागमः [अस्मिंर्+तु], खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८.३.१५) [अस्मिंः+तु], विसर्जनीयस्य सः (८.३.३४) [अस्मिंस्तु], रुत्वानन्तरं यदा अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा (८.३.२) इत्यनुनासिको भवति, तदा '**अस्मिँस्तु**' इत्यपि सन्धिरूपं भवति।

कृदन्तः—आकीर्यन्ते धातवोऽत्रेत्**याकरः**, आ+कॄ विक्षेपे (तु० ११८)+घ-पुंसि संज्ञायाम् घः प्रायेण (३.३.११८), सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः।

तद्धितान्तः—कुतः किम् ङसि+तसिल्-पञ्चम्यास्तसिल् (५.३.७) कृत्तद्धित० (१.२.४६), सुपो धातुप्राति० (२.४.७१) [किम्+ तस्], कु तिहोः (७.२.१०४) इति किमः स्थाने '**कु**' आदेशः।

समासः—निगुर्णम् निर्गता गुणा यस्मात् तन्निर्गुणम्-प्रादिभ्यो

धातुजस्योत्तरपदस्य लोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्यः (वा० २.२.२४) इति बहुव्रीहिः। **पद्मरागः**—पद्मस्य इव रागोऽस्य स पद्मरागः-अनेकमन्यपदार्थे (२.२.२४) इति बहुव्रीहिः।

अन्वयार्थः—अन्यच्च उक्तं यद्—

अस्मिन् तु=एतस्मिन्नुत्तमोत्तमे भवदीये तु, गोत्रे[१]=राजवंशे, निर्गुणम्=गुणहीनम्, अपत्यम्=तोकम्, पुत्र इति यावद्, न उपजायते=नहि उत्पद्यते (यथा=यद्वत्), पद्म[२]रागा[३]णाम्=कमलस्य रक्तिमवल् लोहितकान्तिमताम् मणिविशेषाणाम्, आकरे=खनौ, काचमणेः[४]=तुच्छक्षाररत्नस्य, जन्म=जनिः, कुतः=कथम् (भवति), नैव सम्भवतीत्यर्थः।

भाषार्थः—और भी कहा गया है कि—(आपके) इस (गुणशाली) राजवंश में तो (गुणवान् सन्तति ही उत्पन्न हो सकती है) गुणहीन सन्तान (कभी) उत्पन्न हो ही नहीं सकती। जैसे- पद्मराग मणियों (चुन्नी) की खान में (मणि ही उत्पन्न हो सकती है) काँच की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं।

नीतिः

सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे॥ १९३॥

—रघु० १.६९॥

गुणिनि गुणज्ञो रमते नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः।
अलिरेति वनात् पद्मं न दर्दुरस्त्वेकवासोऽपि॥ १९४॥

—सं०सु०र० २७॥

प्रकृत श्लोक का अपवाद भी देखा जाता है, जैसे—

१. गोत्रा भूगव्ययोर्गोत्रः शैले गोत्रं कुलाख्ययोः॥ सम्भावनीयबोधे च काननच्छत्रवर्त्मसु (मे० २७.२६-२७) गोत्रं क्षेत्रेऽन्वये छत्रे संभाव्ये बोधवर्त्मनोः। वने नाम्नि च, गोत्रोऽद्रौ, गोत्रा भुवि गवां गणे॥ (हैमः० २.४१५)।
२. पद्मोऽस्त्री पद्मके व्यूहनिधिसङ्ख्यान्तरेऽम्बुजे॥ ना नागे स्त्री फञ्जिकाश्रीचारटीपन्नगेषु च। (मे० २५. १८-१९)
३. रागस्तु मात्सर्ये लोहितादिषु। क्लेशादावनुरागे च गान्धारादौ नृपेऽपि च॥ (मे० ३.२०)
४. मणिस्त्वजागलस्तने। मेढ्राग्रेऽलिञ्जरे रत्ने (हैम० २.१५२)

किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम्।
भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः॥ १९५॥

—मृत्० ८.२९.९.७॥

उच्च कुल में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति का शील उत्तम ही हो यह कोई नियम अनिवार्य नहीं हैं। क्योंकि उत्तम खेत में भी कांटेदार वृक्ष उत्पन्न होते ही हैं।

वंशे प्रभूतेऽपि महागुणाढ्याः प्राचुर्यभावेन भवन्ति नैव।
वृक्षे च वृक्षे च न सन्ति शाखाश्छत्रोपयोगाय विशिष्टरूपाः॥ १९६॥

—सू०मु० १०४॥

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद् दूर्वापि गोरोमतः,
पङ्कात्तामरसं शशाङ्क उदधेरिन्दीवरं गोमयात्।
काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना,
प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना॥ १९७॥

—पं० १.१०३॥

अपि च द्र० हि० श्लोक २० और तद्व्याख्यान्तर्गत नीतिश्लोक।



अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तर एव तव पुत्रान्नीतिशास्त्राभिज्ञान् करिष्यामि। अथ राजा सविनयं पुनरुवाच—

कोषः

अभ्यन्तर २- **अभ्यन्तरं त्वन्तरालम्** (अ. १.३.६)

अभिज्ञ १०- **प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः।**
वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल इत्यपि॥ (अ० ३.१.४)

व्याकरणम्

सन्धिः—अतः+अहम्=**अतोऽहम्**-अतो रोरप्लुता०, आद् गुणः, एङः पदान्तादति (६.१.१०९, ८४, १०५) इति उत्वगुणपूर्वरूपाणि। षट्+मास०=**षण्मास०**-यरोऽनुनासिके० (८.४.४४)। ०मास+अभ्यन्तरे=**०मासाभ्यन्तरे**-अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७)। ०भ्यन्तरे+एव=**०भ्यन्तर**

एव- एचोऽय० (६.१.७५) इत्ययादेशः, लोपः शाकल्यस्य (८.३.१९) इति यकारस्य लोपः। शास्त्र+अभिज्ञान्=**शास्त्राभिज्ञान्**-सवर्णदीर्घैकादेशः।

कृदन्तः—अभिज्ञान् अभिज्ञानतीति अभिज्ञाः, तान् तथोक्तम्, अभि+ज्ञा अवबोधने (क्रया० ४०)+कः-आतश्चोपसर्गे (३.१.१३६) [अभि+ज्ञा+अ], आतो लोप इटि च (६.४.६४) इत्याकारस्य लोपः, [अभि+ज्ञ्+अ], कुगतिप्रादयः (२.२.१८) इति गतिसमासः। **विनयः** वि+णीञ् प्रापणे (भ्वादि० ६४२)- णो नः (६.१.६३), वि+नी+अच्-एरच् (३.३.५६), सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) [वि+ने+अ], एचोऽयवा० (६.१.७५) इत्ययादेशः [वि+नय], पूर्ववत् गतिसमासः।

समासः—षट् च ते मासाः **षण्मासाः**-कर्मधारयतत्पुरुषः। षण्मासानाम् अभ्यन्तरम् **षण्मासाभ्यन्तरम्** तस्मिन् तथोक्तम्, षष्ठीतत्पुरुषः। नीतेः शास्त्रम्-**नीतिशास्त्रम्,** तस्य अभिज्ञाः इति **नीतिशास्त्राभिज्ञाः**, तान् तथोक्तम्, उभयत्र षष्ठीतत्पुरुषः। विनयेन सह विद्यमानम् **सविनयम्** तेन सहेति तुल्ययोगे[1] (२.२.२८) इति बहुव्रीहिः, वोपसर्जनस्य (६.३.८१) इति सहस्य 'सः' आदेशः।

अन्वयार्थः—अतः=अस्मात् कारणात्, सत्कुलप्रसूतत्वात्, उपदेशस्य ग्रहणधारणपटुतायोग्यत्वादिति यावत्, अहम्=विष्णुशर्माख्योऽहम्, षण्मासाभ्यन्तरे=षड्भ्यो मासेभ्योऽर्वाक्, अर्धवर्षान्तराले, एव=अवश्यमेव, तव=भवतः, पुत्रान्=आत्मोद्भवान्, नीतिशास्त्राभिज्ञान्=नयविद्यानिष्णातान्, करिष्यामि=विधास्यामि।

अथ=विष्णुशर्मण आश्वासनं श्रुत्वा तदनन्तरम्, राजा=पार्थिवः, सविनयम्=विनीतः सन्, पुनः=भूयः, उवाच=जगाद—

भाषार्थ—[महान् राजवंश (द्विजों) के संस्कारों से संस्कारित होने से इन राजकुमारों में विद्याग्रहण का सामर्थ्य अव्यक्त रूप में विद्यमान है।] इसलिए मैं विष्णुशर्मा छः मास के भीतर ही तुम्हारे सपूतों को नीतिशास्त्रज्ञ, विद्वान् बनाऊँगा।

१. प्रायिकं तुल्ययोग इति विशेषणम्, अन्यत्रापि समासो दृश्यते (काशिका तत्रैव)।

विष्णुशर्मा के इस वचन को सुनकर राजा ने पुनः नम्रतापूर्वक कहा कि—



४१. यथोदयगिरेर्द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते।
तथा तत्सन्निधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते॥

अन्वयः—यथा उदयगिरेः सन्निकर्षेण द्रव्यम् दीप्यते, तथा सत्सन्निधानेन हीनवर्णः अपि दीप्यते

कोषः

उदय २- **उदयः पूर्वपर्वतः** (अ० २.३.२)

गिरि १३- **महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः।**
अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः॥ (अ० २.३.१)

सन्निकर्ष, सन्निधान १७- **सन्निधिः सन्निकर्षणम्** (अ० ३.२.२३)
समीपे निकटासन्नसन्निकृष्टसनीडवत्॥
सदेशाभ्याशसविधसमर्यादसवेशवत्।
उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्॥
(अ० ३.१.६६,६७)
[तु० सविधसनीडसमार्यादसवेशसदेशेषु सामीप्ये
(अष्ट० ६.२.२३)]

हीन ६- द्र० श्लोकः ३५, पृ० १४९।

दीप् ३२- द्र० **शुभ्,** श्लोकः ३४, पृ० १३९।

व्याकरणम्

कृदन्तः—उद्यन्ति ग्रहादय अस्मादिति **उदयः,** उद्+इण् गतौ (अ० ३८)+एरच् (३.३.५६)। **सन्निकर्षेण** सम्+नि+कृष विलेखने (भ्वा० ७१६)+घञ्-भावे (३.३.१८)। **सन्निधानेन** सम्+नि+डुधाञ् धारणपोषणयोः (जु० १०)+ल्युट् (३.३.११५)।

समासः—उदयश्चासौ गिरिश्चेति **उदयगिरिः,** तस्य तथोक्तम्, कर्मधारयः। सतां सन्निधानं-सत्सन्निधानम्, तेन तथोक्तम्-षष्ठीतत्पुरुषः।

हीनः निकृष्टो वर्णो यस्य स **हीनवर्णः**, हीनाः त्यक्ताः वर्णा अक्षराणि येन स **हीनवर्णः** अनधीतः-अनेकमन्यपदार्थे (२.२.२४) इति बहुव्रीहिः।

तिङन्तः—दीप्यते दीपी दीप्तौ (दि० ४१)+त (लट्)-दिवादिभ्यः श्यन् (३.१.६९) (दीप्+य+ते), टित आत्मनेपदानां टेरे (३.४.७९)।

अन्वयार्थः—यथा=येन प्रकारेण, उदय[1]गिरे[2]:=उदयाचल पर्वतस्य, सन्निकर्षेण=सामीप्येन, सम्पर्केण, द्रव्यम्=तदधित्यकायामुपत्यकायाञ्च विद्यमानं पाषाणवृक्षादिकं वस्तुजातं सर्वं दीप्तिरहितं सदपि सूर्यप्रकाश-सम्पर्केण दीप्यते=देदीप्यते। तथा=तेनैव प्रकारेण, सत्सन्निधानेन= ज्ञानज्योतिद्योतितान्तःकरणानां विदुषां सान्निध्येन, हीन[3]वर्ण[4] अपि= निकृष्टजन्मा ज्ञानशून्यो निर्गुण अयशः निस्तेजोऽपि जनः, दीप्यते=तेजस्वी भवति, ज्ञानवान् भवति।

भाषार्थः—जिस प्रकार उदयाचल में विद्यमान सभी पदार्थ उदीयमान सूर्य के तेज से देदीप्यमान होते हैं, ठीक उसी प्रकार ज्ञानज्योतिः-पुंज विद्वानों के सान्निध्य से मूर्ख भी तेजस्वी और ज्ञानवान् बन जाते हैं।

नीतिः

गुणवज्जनसम्पर्काद्याति स्वल्पोऽपि गौरवम्।
पुष्पमालानुषङ्गेण सूत्रं शिरसि धार्यते॥ १९८॥
जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतःप्रसादयति, दिक्षु तनोति कीर्तिं,
सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्[1]॥ १९९॥
—भर्तृ० नीति० १९॥

१. उदयस्तु पुमान् पूर्वपर्वते च समुन्नतौ (मे० २६.७५)।
२. गिरिः पूज्येऽक्षिरुजि कन्दुके॥ शैले गैरेयके गीर्णावपि (हैमः० २.४१२-४१३)।
३. हीनं गर्ह्योनयोस्त्रिषु (मे० २०.२६)।
४. वर्णः स्वर्णे व्रते स्तुतौ॥ रूपे द्विजादौ शुक्लादौ कुथायामक्षरे गुणे। भेदे गतिक्रमे चित्रे यशस्तालविशेषयोः॥ अङ्गरागे च वर्णं तु कुङ्कुमे (हैमः० २. १५३-१५५)।
१. 'सत्संङ्गतिः सुमनसां च ददाति शान्तिम्' इति क्वचित्।

नासमञ्जसशीलैस्तु सहासीत कथञ्चन।
सद्वृत्तसन्निकर्षो हि क्षणार्धमपि शस्यते॥ २००॥

—वि०पु० ३.१२.२१॥



४२. गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः॥

अन्वयः—(गुणाः) गुणज्ञेषु (यथा) गुणाः भवन्ति, ते (एव) निर्गुणं प्राप्य (तथैव) दोषाः भवन्ति, (यथा याः) नद्यः आस्वाद्यतोयाः (सत्यः) प्रवहन्ति, (तथा ताः एव) समुद्रम् आसाद्य अपेयाः भवन्ति।

कोषः

तोय २७- **आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्।**
पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्॥
कबन्धमुदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम्।
अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशंबरम्॥
मेघपुष्पं घनरसः (अ० १.१०.३-५)

नदी १६- द्र०सरित्, पृ० ३४।

समुद्र १५- द्र० श्लोकः ४, पृ० ३४।

वह् २- **वहति प्रवहत्यपाम्** (आ०च० २.३. ४६)

व्याकरणम्

कृदन्तः—गुणान् जानन्तीति **गुणज्ञाः,** तेषु गुणज्ञेषु, गुण ङस्+ज्ञा+कः-आतोऽनुपसर्गे कः (३.२.३), आतो लोप इटि च (६.४.६४), उपपदमतिङ् (२.२.१९)। **दोषाः** दुष वैकृत्ये (दि० ७४)+घञ्। **आस्वाद्य** आ+स्वद आस्वादने (भ्वा० १७, चु० २२८)+णिच्+यत्-अचो यत् (३.१.९७), णेरनिटि (६.४.५१), समानकर्तृकयोः० (३.४.२१), कुगतिप्रादयः (२.२.१८), समासेऽनञ्पूर्वे० (७.१.३७)। **आसाद्य** आ+सद्+णिच्+क्त्वा ल्यप्। **पेयाः** पा पाने (भ्वा० ६५९)+यत्-अचो यत् (३.१.९७), ईद्यति (६.४.६५) [पी+य], सार्वधातुकार्ध०

(७.३.८४) इति गुणः।

समासः—निर्गता गुणा यस्मात् स **निर्गुणः**-बहुव्रीहिः। आस्वाद्यानि तोयानि यासां ता **आस्वाद्यतोयाः**-अनेकमन्यपदार्थे इति बहुव्रीहिः। न पेयम् अपेयम्-नञ्तत्पुरुषः।

अन्वयार्थः—गुणाः=विद्याप्रावीण्यादयः गुणज्ञेषु=गुणवित्सु जनेषु (यथा) गुणाः= गुणपदवाच्याः भवन्ति=सम्पद्यन्ते, ते=अमी एव गुणाः निर्गुणम्=गुणहीनं कुपात्रम्, प्राप्य=लब्ध्वा, (तथैव) दोषाः[1]=अवगुणा, भवन्ति=सम्पद्यन्ते, गुणपदवाच्या न भवन्तीति यावत्, (तत्र दृष्टान्तः-यथा याः) नद्यः[2]=गङ्गादयः= सरितः, आस्वाद्यतोयाः=सुपेयमधुरजलाः (सत्यः), प्रवहन्ति=प्रचरन्ति, (तथा ता एव नद्यः) समुद्रम्=लवणोदकमयं सरित्पतिम्, आसाद्य=प्राप्य, अपेयाः[3]=पातुमयोग्याः, भवन्ति=सम्पद्यन्ते। कुलीना मत्पुत्रा अपि भवत्साङ्गत्येन विद्वांसो भविष्यन्तीति भावः।

भाषार्थः—विद्या, शौर्य, धैर्य आदि गुण गुणज्ञ सत्पात्र को प्राप्त होकर सद्गुण कहलाते हैं, पर वे ही गुण निर्गुण कुपात्र को प्राप्त होकर दुर्गुण (दोष) कहलाते हैं। जैसे गङ्गा आदि नदियाँ मधुर और सुपेय जल वाली होती हुई बहती हैं, पर वे ही नदियाँ जब समुद्र में मिलती हैं, तो उनका जल अपेय बन जाता है। कुलीन मेरे पुत्र भी आपके सांगत्य से विद्वान् बन जायेंगे।

नीतिः

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥ २०१॥
सुजनानां हि संसर्गः नितरां परिशोभनः।
पद्मपत्रस्थितं तोयं धत्ते मुक्ताफलश्रियम्॥ २०२॥ —सू०कु० २४॥



१. दोषः- द्र० श्लोकः २९. पृ० १२७।

२. नदी सरिति शोणादौ ना (मे० १८.६)।

१. पेयं पातव्यपयसोः पेया क्षाणाच्छमण्डयोः (मे. २६.३९)

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय 'भवन्तः प्रमाणम्'। इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणः (करे) बहुमानपुरस्सरं पुत्रान् समर्पितवान्।

अन्वयः—तत् एतेषाम् अस्मत्पुत्राणाम् नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम् इति उक्त्वा बहुमानपुरास्सरम् पुत्रान् तस्य विष्णुशर्मणः (करे) समर्पितवान्।

कोषः

पुरःसर ७- **पुरोगाग्रेसरप्रष्ठाग्रतःसरपुरःसराः। पुरोगमः पुरोगामी** (अ० २.८.७२)

बहु १२- द्र० श्लोकः १९, पृ० ९४।

मान २- **मानश्चित्तसमुन्नतिः** (अ० १.७.२२)

व्याकरणम्

कृदन्तः—प्रमाणम् प्र+माङ् माने शब्दे च (जु० ६)+ल्युट्- ल्युट् च (३.३.११५) इति भावे, करणाधिकरणयोश्च (३.३.११७) इति करणे, कृत्यल्युटो बहुलम् (३.३.११३) इति कर्तरि वा ल्युट्। **उक्त्वा** वच परिभाषणे (अ० ५६) क्त्वा-समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३.४.२१), वचिस्वपि० (६.१.१५) इति सम्प्रसारणम्। **मान** मनु अवबोधने (त० ९)+घञ्-भावे (३.३.१८)। **पुरस्सरः** पुरस्+सृ गतौ (भ्वा० ६६९)+ टः-पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः (३.२.१८), सार्वधातुकार्ध० (७.३.८४) इति गुणः, उपपदमतिङ् (२.२.१९)। **समर्पितवान्** सम्+ऋ गतिप्रापणयोः (भ्वा० ६७०), ऋ गतौ (जु० १६) वा+णिच्+क्तवतु-निष्ठा (३.२.१०२), णिचि ऋधातोः अर्तिह्रीव्ली० (७.३.३६) इति पुगागमः।

समासः—अस्माकं पुत्राः **अस्मत्पुत्राः,** तेषां तथोक्तम्-षष्ठीतत्पुरुषः। नीतेः शास्त्रम् **नीतिशास्त्रम्,** तस्य उपदेशः **नीतिशास्त्रोपदेशः,** तस्मै तथोक्तम्, उभयत्र षष्ठीतत्पुरुषः। बहुश्चासौ मानश्च **बहुमानः**-कर्मधारय-तत्पुरुषः। बहुमानः पुरःसरो यस्मिन् कर्मणि तत् **बहुमानपुरःसरम्**-बहुव्रीहिः।

अन्वयार्थः—तत्=विदुषां साङ्गत्येन अज्ञोऽपि विज्ञो भवतीति

कारणतः एतेषाम्=अग्रे समुपविष्टानाम्, अस्मत्पुत्राणाम्=मत्तनयानाम्, नीतिशास्त्रोपदेशाय=नयशास्त्राध्यापनाय, भवन्तः=यूयम्, विष्णुशर्मणः (आदरार्थे बहुवचनम्), प्रमाणम्[१]=स्वतन्त्राः, इतरानपेक्षाः, यथा भवन्तो वाञ्छन्ति, तथा पाठनीया इमे, नात्र किमपि अस्माभिर्वक्तव्यमस्तीति भावः, इति=एवम्, उक्त्वा=अभिधाय, बहु[२]मान[३]पुरस्सरम्=सम्मान-पूर्वकम्, पुत्रान्=आत्मसम्भवान्, विष्णुशर्मणः तन्नामधेयस्य महाविदुषः (करे=हस्ते) समर्पितवान्=समर्पणमकरोत्।

भाषार्थः—विद्वानों के साङ्गत्य से मनुष्य ज्ञानी बनते हैं, इसलिये इन मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्र के अध्यापन के निमित्त आप स्वतन्त्र हैं (जैसे चाहें, वैसे इन्हें पढ़ाईए, इसमें हमारा कोई हस्तक्षेप नहीं होगा, आज से ये बालक पूर्णरूप से आपके अधीन हैं), ऐसा कहकर राजा सुदर्शन ने अपने पुत्रों को ससम्मान विष्णुशर्मा के हाथों में सौंप दिया।

॥ इति कथामुखं समाप्तिमगात्॥

१. प्रमाणं नित्यमर्यादाशास्त्रेषु सस्यवीदिनि।
इयत्तायां च हैतो च क्लीबैकत्वे प्रमातरि॥ (मे० १५.६१)।

२. द्र० पृ० ९६।

३. मानं प्रमाणे प्रस्थादौ मानश्चित्तोन्नतौ ग्रहे॥ (हैमः २.२८१, विश्वः ८५.६)।

नीतिश्लोकादीनामनुक्रमणिका

अकामस्य क्रिया १११
अकृत्वा परसन्ता ९३
अगाधे विमले ८९
अञ्जनस्य क्षयं ८१
अनुद्वेगकरं वाक्यं ८८
अन्तःसारविहीनस्य १४३
अपिकूलं तटाकं ९०
अभिमानवतो मन १२८
अर्थेन तु विहीनस्य १११
अर्थो वा मित्रवर्गो १३३
अविज्ञाय फलं यो हि ६२
अश्वः शस्त्रं शास्त्रं १५१
अष्टौ गुणाः पुरुषं १०१
असतां सङ्गदोषेण १५१
असत्संगात् १५१
अहितहितविचार ८१
अहिंसा सत्यवचनम् ८९
आचार्यात् पादम् १०
आत्मा तु पात्रतां ३९
आत्मा नदीसंयम ८९
आयुषः क्षण एको १०८
आलस्यं हि मनुष्या १३४
इह चेदवेदीदथ ११२
इह यत्क्रियते १२४
उचितमनुचितं ६२
उच्चासनगतो १४४
उत्क्राम महते ११८
उत्तमश्चिन्तितं १०४
उत्साहो बलवान् १३६
उद्यमेन हि सिध्यन्ति १०
उद्यमो मित्रवत् १३६
उद्यमं साहसं १०
उद्यमः साहसं १३६
एकेनापि सुपुत्रेण जायमा० ८५
एकेनापि सुपुत्रेण विद्या ८४
एकेनापि सुपुत्रेण सिंही ८४
एकेनापि सुवृक्षेण ७५
कर्मणामी भान्ति १२२
कर्मण्येवाधिकार १२८
कश्चिदाम्रवणं ६२
काकः कृष्णः पिकः १४४
किं कुलेन विशालेन १४३
किं कुलेनोपदिष्टेन १५८
किं तया क्रियते ६९
किं तेन जातु जातेन ७८
कुग्रामवासः कुलहीन ७०
कुर्वन्नेवेह कर्माणि १२४
कुलीनमकुलीनं वा १३८
कुले सतताध्ययन ८७
केयूराणि न भूष ३३
कौशेयं कृमिजं १५८
क्रियाविरहितं हन्त १३६
क्रिया हि वस्तूपहिता ४६
क्षणशः कणशश्चैव ३०
क्षयिष्णुना वापि ८५
क्षेत्रं पुरुषकारस्तु १२२
खननान्मथनाल्लोके १३१
गच्छन् पिपीलिको १०, १३४
गतेऽपि वयसि ३०
गर्भेश्वरत्वमभिनव ६१
गुणवज्जनसम्पर्काद् १६१
गुणाः पूजास्थानं १०१
गुणिता शतशो विद्या ९
गुणिनि गुणज्ञो १५७
गुणेषु क्रियतां १०१
गुणैर्गौरवमायति ८५

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः १३८
चरन् वै मधु १३४
जन्मना जायते १३८
जाड्यं धियो हरति १६१
ज्ञातिभिर्वण्ट्यते ३३
ज्ञानविज्ञानमारोग्यं ८८
तत्त्ववित्त्वनहं ८९
तपः पवित्रं वेदस्य ८८
तपसा प्राप्यते ८८
तपसा रूपसौभाग्यं १२८
तपसा विन्दते ८८
तीर्थं शौचमनर्थि ८९
तेजसां हि न वयः ४३
तेजस्तेजस्वि १४९
ते वन्ध्यास्ते महात्मानः ७८
दम्पत्त्योः कलहो ९४
दिवसेनैव तत्कुर्याद् ३०
दुर्गतेः पितरौ रक्षति ९७
दुर्बलार्थं बलं यस्य ९७
दुर्लभान्यपि कार्याणि १२०
देवद्विज गुरुप्राज्ञ ८८
दैवायत्तं कुले जन्म १२४
धनस्य यस्यास्ति ३३
धर्मसमवायिनः ९०
धर्मो विश्वस्य १०९
धृतिः क्षमा दमो १०९
न करोति यतः ६९
न कर्मणां विप्रणाशो १२४
न चोरहार्यं न च ३३
न जात्या ब्राह्मण १३८
न धर्मवृद्धेषु वयः १०१
नभसो भूषणं ३३
न रत्नमन्विष्यति १३६
नातप्ततपसो लोके ८८
नानपत्यस्य स्वर्गः ९४
नासमञ्जसशीलैस्तु १६२
नास्ति खल्वसाध्यं ८८
निरुत्साहं निरानन्दं ७८
निर्ममा निरहंकारा ८९
पठतो नास्ति मूर्खत्वं ४३
पदं हि सर्वत्र १०१
परोऽपि हितवान् २६
पात्रविशेष न्यस्तं ४७, १५५
पुण्यस्य फलम् १३१
पुत्रा हि गदिताः ६९
पुत्रे गुणवति १०१
पुनाति त्रायते ६९
पुन्नामो नरकाद् ६९
पुस्तकस्था च या ९
प्रसन्ना धीर्मनो ८९
प्रजानां विनयाधानाद् १४०
प्रज्ञया वा विसारिण्या ७८
प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत १०९
प्रदोषे दीपकश्चन्द्रः ९७
प्रायः सुकृतिनामर्थे ८७
प्रारभ्यते न खलु १२८
बधिरयति कर्ण ६१
बहूनां समवाये १२८
बुद्धिश्च हीयते १५१
मनः प्रसादः सोम्यत्वं ८८
मनसा च प्रदीप्तेन ८९
माता शत्रुः पिता वैरी ६६
मातेव रक्षति पितेव ३९
मूर्खस्य दिशः शून्याः १११
य उत्पन्नः पुनीते ९७
यज्जीवति क्षणमपि ८१
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते ९४
यत्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं ९३
यथा काष्ठमयी १३८
यथा चतुर्भिः कनकं १४४
यथा तैलक्षयाद् १२०

यथा बीजं विना	१२२	शतेन गुणितायाति	१०
यदध्यासितमर्हद्भिः	९०	शुनः पुच्छमिव	५८
यदि धर्मं यथाशक्तिः	८८	शूद्रो ब्राह्मणताम्	३६
यशस्करे कर्मणि	९३	शोभते विदुषां मध्ये	१४०
यस्माच्च येन च	१२४	श्रियः प्रदुग्धे विपदो	३९
यस्य नास्ति विवेक	६२	स जीवति गुणा	८१
यस्य पुत्रो न वै	७०	स जीवति यशो	८१
यः प्रीणयेत् सुचरितैः	८७	सतां दुर्जनसंसर्गात्	१५१
यस्मिन् दिने पितुरभूत्	९४	सत्यं तीर्थ क्षमा	८९
यस्मिन् वंशे समुत्पन्नः	७३	सत्यानृता च	६२
यावत्स्वरथमिदं	३०	सद्विद्या यदि का	३९
यावत्स्वस्थो ह्ययं	३०	सद्भिरेव सहासीत	१४९
युवैव धर्मशीलः	६१	सन्तः कुर्वन्ति	९३
येषां न विद्या न	५७, १११	सन्ततिः शुद्धवंश्या	१५७
यो लुब्धः पिशुनः	८९	सन्तप्तायसि संस्थित	१५१
राजपुत्रा मदोन्मत्ता	६२	समदोषः समाग्निश्च	९३
वयोरूपविभूतीनाम्	६१	समुद्धुतरजोभ्रान्ति	६१
वरं पर्वतदुर्गेषु	७२	सम्यगाराधिता विद्या	३९
वंशे प्रभूतेऽपि	१५८	सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः	७२
विद्यया स्फीयते	३९	सहसा विदधीत न	६२
विद्यातपो वित्तवपु	६१	संसारविषवृक्षस्य	२२, १४९
विद्यातीर्थे विमल	९०	सा विद्या या मदं	४०
विद्या नाम नरस्य कीर्त्ति	५८	साहित्यसंगीत	५८
विद्या नाम नरस्य रूप	५७	सुखस्यदुःखस्य	१३१
विद्याविक्रमजं	१३६	सुजनानां हि संसर्गः	१६३
विद्या विवादाय	१६३	सुपात्रे दीप्तिकृद्	१५५
विद्याविहीना	८५	स्वगृहे पूज्यते	३६
विनयो ददाति	९	स्वभावं न जहात्येव	४७
विपुलमपि धनौघं	१३४	स्वभावं नैव मुञ्चन्ति	४७
विवेकभ्रष्टानां	६२	स्वभावो यादृशो यस्य	४७
विवेक:सह	४०	स्वल्पेन दुर्गुणेनापि	१५१
विहाय पौरुषं	१२२	हर्तुर्याति न गोचरं	३३
वीरः सुधीः सुविद्य	१२४	हिताशी स्यान्मिताशी	९३
व्रजत्यधः प्रयात्युचै	१२०	हितोपदेशं श्रुणुयात्	२६
शक्यं विद्या विनीतेन	४०	हे दारिद्र्य नम	१११